"... जैन धर्म के ग्रन्थो मे वर्णित कथानक के आधार पर इसकी रचना की जाने से, पुराण कथित हरिश्चन्द्र से प्रस्तुत हरिश्चन्द्र कुछ भिन्न रूप मे दिखलाये गये हैं। उनके प्रारम्भिक जीवन की कई घटनाऐ, जो आज तक हिन्दी-साहित्य के किसी भी ग्रन्थ मे देखने मे नहीं आतीं, इसमे वर्णित हैं।

× × कथानक के साथ-साथ नीति, धर्म का और सदाचार के धार्मिक उपदेशो के कारण पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। "

—'स्वराज्य' खण्डवा

× × ×

" पुस्तक उच्चभावो और उपमाओ से ओत-प्रोत है। प्रत्येक स्त्री और पुरुष पाठक को पठनीय है। "

—'जैन-पथ-प्रदर्शक' आगरा

× × ×

" शिक्षा की दृष्टि से सर्व-साधारण के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। "

'जैन-प्रकाशक' बम्बई

विषय-सूची।

विषय			पृष्ठांक

प्राक्कथन

जिन हरिश्चन्द्र और तारा के चरित्र को, पढ़-सुनकर भारतीय ही नहीं, बल्कि विदेशी भी मुग्ध होते सुने जाते हैं, मुसलमान, मजहबी भेद-भाव को छोड़, आँखों से अविरल अश्रुधारा बहाते सुने जाते है, उन्हीं दानी-शिरोमणि, सत्य-धीर महाराजा हरिश्चन्द्र और उनकी पतिव्रता, शिक्षादात्री, पतिहितेच्छु, पतिसेवा के लिए सांसारिक-सुखो को लात मारनेवाली, महान से महान कष्ट में भी धर्म और पतिसेवा को न त्यागनेवाली धर्मपत्नी, महारानी तारा का चरित्र चित्रण करने के पहले यह विचारना आवश्यक है, कि इनकी कथा क्यो गाई और सुनाई जाती है और इनके गुण गाने या श्रवण करने से मनुष्य को क्या लाभ होता है।

ससार का यह नियम है, कि जिसके आचार-विचार में क्रूरता भरी हुई होती है, जो धर्म की अपेक्षा अधर्म को महत्व देता है, जो सत्य को ठुकराता और असत्य को अपनाता है, जिसके कार्य नियम—विरुद्ध, दूसरो को हानिप्रद और प्राकृतिक नियमो के प्रतिकूल होते है, उस मनुष्य का नाम सुनकर हृदय काँप उठता है, रोमांच हो आता है, उसका नाम लेने और सुनने

से लोग घृणा करते हैं। उसके जीवित न रहने पर लोगो को दुःख नही होता, वरन् प्रसन्नता होती है। उसके मरणोपरान्त, कोई उसका नाम भी नही लेता और यदि कोई लेता भी है, तो बहुत घृणा के साथ। ऐसे मनुष्यो से, केवल वे ही लोग प्रसन्न रहते है, जिनकी प्रकृति इनकी प्रकृति से मिलती-जुलती होती है। इसके विरुद्ध, जो मनुष्य दूसरो के दुःख से दुःखी होकर उनकी सहायता करनेवाला, समदृष्टि, सदाचारी, धर्मभीरु और परोपकारी होता है, वह जीवितावस्था मे तो सब को प्रसन्न रखता ही है, परन्तु मरने पर—उसकी मृत्यु को हजारो या लाखो वर्ष बीत जाने पर—भी लोग उसके नाम को बड़े आदर से स्मरण करते है। उसके चरित्र को पढ़ते-सुनते और उसे आदर्श-पुरुष मानते हैं। राम और रावण, दुर्योधन और युधिष्ठिर, कंस और कृष्ण, इस संसार मे अब नहीं है, लेकिन इनके नाम इसी अन्तर से लिये जाते है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। स्वभाव के दोष के कारण कुछ लोग, दूसरी तरह के बताये हुए उत्तम-मनुष्यो को भी बुरा चाहे कहे, लेकिन इससे न तो उन उत्तम मनुष्यो का दोष ही है और न ऐसे अल्प-संख्यक लोगो के कहने से वे बुरे ही हो सकते है। इसमें यदि दोष है, तो ऐसा कहनेवाले लोगों की प्रकृति का। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से संसार के सब जीवो को प्रकाश प्राप्त होता है, परन्तु उल्लू के लिये वही सूर्य अन्धकार फैलानेवाला हो जाता है, उसी प्रकार, ऐसे उत्तम-पुरुष सब को तो प्रिय होते है, परन्तु उल्लू की तरह जिसकी प्रकृति ही उल्टी है, उसके लिये वे ही उत्तम-पुरुष बुरे हो जाते है। लेकिन जिस प्रकार सूर्योदय होने से उल्लू के लिये अँधेरा हो जाने मे

सूर्य का दोष नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार यदि उल्टी-प्रकृति के लोगो को वे श्रेष्ठ-पुरुष सदोष दिखाई दे, तो इसमें उन उत्तम-पुरुषो को भी कोई दोषी नही कह सकता।

चरित्र-वर्णन, पठन या श्रवण, यद्यपि दोनो ही प्रकार के मनुष्यो का किया जाता है, लेकिन एक को बुरा समझकर और दूसरे को भला समझकर। एक के चरित्र को आदर्श मानकर, तदनुसार आचरण करने के लिए और दूसरे के चरित्र को त्याज्य मानकर, वैसे आचरण से बचने के लिए। सदाचारी के चरित्र ग्राह्य माने जाते हैं और दुराचारी के त्याज्य।

हरिश्चन्द्र के चरित्र से, सत्य में अटल, दान मे वीर, कष्ट मे धीर और गम्भीर रहने आदि का आदर्श प्राप्त होता है और तारा के चरित्र से स्त्री-धर्म, पति-प्रेम, पतिसेवा, धर्म-रक्षा, तथा गृह-कार्य में दक्षता आदि बातो का, रोहित के चरित्र से भी बहुत कुछ शिक्षा मिलती है, जिसका वर्णन यथास्थान है।

संसार मे जितने भी दानी हुए हैं, जितने भी सत्यवादी और सत्यपालक हुए हैं, हरिश्चन्द्र का उन सब मे विशेष-स्थान माना जाता है। सब लोग कहते हैं, कि धन्य है हरिश्चन्द्र को, जिसने खाने के लिये एक समय का भोजन भी पास न रखा और शरीर पर केवल आवश्यक वस्त्र रख, अपनी और अपने पुत्र तथा स्त्री के भविष्य की चिन्ता न कर, राज्य-पाट आदि सब कुछ दान कर दिया। इतना ही नही, बल्कि वचन द्वारा स्वीकार की हुई दक्षिणा निश्चित समय पर देने की प्रतिज्ञा पर—पास मे एक भी पैसा न होते हुए—दृढ रहे और स्त्री को बेंच तथा स्वय-बिककर, अपने वचन का पालन किया। इसपर भी अपनी

स्वामिनी (भङ्गिन) के कटु-शब्दो को प्रसन्नतापूर्वक सहते रहे और उस समय का स्मरण करके, किसका कठोर हृदय करुणा से द्रवित न हो उठेगा, जब इतनी विपत्ति सहने पर भी श्मशान मे आधी-रात के समय अपने एकमात्र-पुत्र के शव को देखकर, एवम् अपनी अर्द्धांगिनी के विलाप को सुनकर भी सत्य से विचलित न हुए, तथा बिना कर लिये, अपने पुत्र का अग्नि-संस्कार न होने दिया।

हरिश्चन्द्र की तरह तारा भी, संसार की पतिव्रता-स्त्रियो में एक थी, जो अपने पति को कर्त्तव्य से पराङ्मुख और विलास-मग्न होते देख, सांसारिक-सुखो को तिलाञ्जलि दे, उन्हे अपने कर्त्तव्य-पथ पर लाने तथा विलासिता के समुद्र मे डूबने से बचाने मे संलग्न हो गई। एक समय का भोजन मिलने की आशा न रहने की परिस्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी, राज्य-सुख को भुला, पति के साथ-साथ वन के दुःसह दुःख सहने—और स्वयं हजारो सेविकाओ से सेवित थी, इस बात का ध्यान न कर—पति के साथ मजदूरी करने में ही आनन्द मानने लगी। इतना ही नही, वरन् पति के वचन की रक्षा के लिए पहले स्वयं बिकी। एक मनुष्य का पेट भरने के लिए जो पर्याप्त नही है, इतने भोजन मे पुत्र को भी भोजन कराया और उसी मे स्वयं भी निर्वाह किया। इतना कष्ट सहकर भी, लोभ पर किंचित आसक्त न हुई। विशेष-समय से बिछुड़े हुए पति के मिलने पर भी, अपने क्रयी की आज्ञा [illegible] उन्हें घड़ा न चढ़ाया। अन्त मे, पुत्र-वियोग के दुःख से दु[illegible] अवस्था मे भी जिन्हे स्वामी के कार्य की चिन्ता रही।

रोहित भी, संसार के बालको मे एक था। जो, बाल्यावस्था

में भी माता-पिता के दुःख को समझता था, उन्हे विशेष दुःख न हो, इस बात का ध्यान रखता था और निर्लोभिता, वीरता तथा स्वतन्त्रता जिसकी रग-रग में भरी थी।

ऐसे आदर्श-साहित्य का जो गौरव भारत को प्राप्त है, वह अन्य-देशों को शायद ही प्राप्त हो। जहाँ अन्य देशो का साहित्य, झूठ, चोरी, विश्वासघात आदि जघन्य-कार्यों का आदर्श स्थापित करता है, वहाँ भारत का साहित्य दान, त्याग, सत्य, स्वामिभक्ति विश्वप्रेम आदि के उच्चतम आदर्श सिखाता है। लेकिन इसके साथ ही भारत का यह दुर्भाग्य भी है, कि जहाँ एक ओर अन्य देशों का साहित्य वृद्धि करता जा रहा है, वहाँ भारत मे मुसलमानो की अग्निलीला से बचे हुए साहित्य को भारतीय ही कलंकित बना रहे हैं। जिन हरिश्चन्द्र और तारा का चरित्र, संसार मे अद्वितीय माना जाता है, उन्हीं हरिश्चन्द्र के दान तथा तारा की पतिभक्ति को, कुछ लोग पाप बताकर अपने देश और धर्म के उत्कृष्ट साहित्य को निकृष्ट बना रहे हैं। ऐसे लोग, स्वयं तो दान कर नहीं सकते—करें भी कहाँ से, क्योंकि इसमे भी वीरता की आवश्यकता होती है—अतः दान को ही पाप बता, उसकी पुष्टि हरिश्चन्द्र के कष्टों का उदाहरण देकर करते हैं। स्त्रियाँ, स्वयं तो पतिभक्ता होती नहीं—वे तो स्वर्ण-भक्ता होती हैं—अतः तारा की निष्काम-पतिभक्ति को पाप बतलाकर सन्तोष कर लेती हैं। सारांश यह, कि भारत के ऐसे निर्मल-साहित्य को भी कुछ लोग, निःसंकोच मलिन बना रहे हैं।

जिस भारत की भूमि को हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित ऐसे रत्न उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिस अयोध्या में इनका

जन्म हुआ, जिसकाल मे, ये हुए, जिस वंश को इन्होने जन्म लेकर गौरवान्वित किया, उन सबको आजकल के लोग धन्य मानते हैं।

जिस प्रकार गौ मे कामधेनु आदर्श मानी जाती है, उसी प्रकार कथाओ मे हरिश्चन्द्र की कथा आदर्श है। इसे आदर्श मानकर तदनुसार आचरण करनेवालो से पाप सदा दूर ही रहा करते हैं और उन्नति दिन-प्रतिदिन समीप आती जाती है।

सत्यमूर्त्ति—
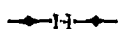
हरिश्चन्द्र-तारा

“आधुनिक उपन्यासकार, अपने कथानक का अन्त, पात्रों को विषय
भोग में प्रवृत्त कराकर ही कर देते है, यह अनुचित है। वास्तव में उचि
तो यह है, कि उपन्यासों का अन्त पात्रों को त्याग-वैराग्य की स्थिति में लाक
किया जाय।”

—काउण्ट टॉलस्टॉय

राजा का मोह

सरयू नदी के किनारे, अयोध्या नामक नगरी, कथा-नायक हरिश्चन्द्र की जन्मभूमि और राजधानी मानी जाती है। जल की अधिकतावाले प्रदेशों में, एक तो वैसे ही नैसर्गिक-सौंदर्य होता है, फिर उसमें भी अयोध्या ! जिसकी प्राकृतिक सुन्दरता और महत्व के वर्णन में, ग्रंथ के पृष्ठ के पृष्ठ भरे पड़े हैं। अयोध्या ही को, भगवान ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दन, अनन्तनाथ आदि तीर्थंकर और श्रीरामचन्द्र ऐसे महापुरुषों को उत्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

अयोध्या नगर, सरयू नदी के तट पर उपवन की तरह शोभा दे रहा था। इस अयोध्या के निवासी, सुन्दरता और स्वभाव में ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे इस उपवन के पुष्प हो। पुष्पो मे जहाँ सुगन्ध का गुण है, वही वे अपनी कोमलता के लिये भी प्रसिद्ध है। लेकिन उनकी यह कोमलता और सुगन्ध, कठोरता पर अवलम्बित है। अर्थात्, उनकी स्थिति उस कठोर-वस्तु पर है, जिसे डाली कहते हैं। इसी के अनुसार, अवध के निवासियो मे, जहाँ नम्रता, कोमलता और परोपकाररूपी सुगन्ध थी, वहीं, इन गुणों की स्थिति के लिये, उनमें वीरता-रूपी कठोरता भी थी।

यदि, मनुष्य केवल नम्र ही नम्र रहे, या केवल कठोर ही कठोर रहे, तो संसार-व्यवहार मे वह उच्चतम योग्य नही माना जाता। जो मनुष्य, मिश्री की तरह होते है, अर्थात्—जिस प्रकार मिश्री मुँह मे रखने पर तो मिठास देती है, लेकिन शरीर पर मारने से चोट पहुँचाती है, इसी प्रकार जो मनुष्य सद्गुणो के साथ तो नम्र, लेकिन दुर्गुणो के साथ कठोर रहते हैं, वे ही संसार-व्यवहार मे कुशल माने जाते है। अस्तु।

इस अयोध्यारूपी फुलवारी मे एक फूल ऐसा था, जो स्वयं भी सुगन्धित था और अपनी सुगन्ध से दूसरे फूलो को भी सुगंधित कर रहा था। सारा संसार, इस फूल को उत्तम मानता और इसकी प्रशसा करता। इसी फूल का नाम था; राजा हरिश्चन्द्र। हरिश्चन्द्र, जहाँ अवध के निवासियो मे उत्कृष्ट माने जाते थे, वहीं सुगन्ध, कोमलता और कठोरता के गुण भी विशेष थे।

ूल यदि यह समझ ले, कि मैं स्वतन्त्र हूँ, डाली के आश्रित हूँ, अत. डाली किसी कार्य की वस्तु नही है; तथा डाली यदि समझ ले, कि फूल मेरे पर केवल बोझ-रूप है, इससे मेरा लाभ नही है, तो दोनो ही की शोभा नष्ट होजायगी। फूल शोभा तभी तक है, जबतक वह डाली पर है और डाली की शोभा भी तभी तक है, जब तक कि उस पर फूल है। इसी के अनुसार, बड़े के यह समझने पर कि 'मै बड़ा हूँ और अन्य लोग तुच्छ है,' और छोटो के यह समझने पर कि 'यह बड़ा हमारा कुछ भी बना-बिगाड़ नही सकता, हम स्वतंत्र हैं' काम नही चलता। ऐसा होने पर, दोनो ही को हानि पहुँचने की सम्भावना हो जाती है। जब अपने-अपने धर्म को जानकर, बड़ा तो

यह समझे, कि मैं छोटो के होने पर ही बड़ा हूँ, तथा इन्होंने ही मुझे बड़ा बनाया है और छोटा यह समझे, कि बड़े से मेरी शोभा है और उन्हीं से मेरी रक्षा है, तभी सुचारु-रूप से कार्य चलता है। राजा और प्रजा मे इन विचारो के रहने पर, कदापि अशान्ति नही हो सकती, न आपस मे वैमनस्य ही हो सकता है।

हरिश्चन्द्र को प्रजा और प्रजा को हरिश्चन्द्र, प्राणो के समान प्रिय थे। सदा एक दूसरे की कल्याण-चिन्ता करते थे। परस्पर, किसी को दुःख मे डालने के कभी विचार भी न होते थे।

हरिश्चन्द्र के लिये कहा जाता है, कि ये श्री रामचन्द्रजी से २७ पीढ़ी पूर्व, उसी कुल मे उत्पन्न हुए थे। वैज्ञानिको का कथन है, कि सन्तान अपनी पैतृक-सम्पत्ति के साथ ही, अपने पूर्वजो के गुण, स्वभाव, स्वास्थ्य आदि को भी प्राप्त करती है। इसके अनुसार, हरिश्चन्द्र के त्यागादि को देखते हुए, यदि रामचन्द्र मे राज्यत्याग का गुण हो, तो कोई आश्चर्य नही। आम के वृक्ष में यदि आम लगे, तो क्या विशेषता है।

हरिश्चन्द्र, यद्यपि एक अच्छे-कुल में उत्पन्न हुए थे, बुद्धिमान थे, प्रजा की रक्षा में तन, मन, धन, से संलग्न रहते थे, परन्तु संसार मे ऐसे विरले ही मनुष्य निकलेंगे; जो युवावस्था के झोके में न आये हो, युवावस्था को पाकर, जो उन्मत्त न बन गये हों। युवावस्था के साथ ही, यदि कहीं धन-वैभव भी प्राप्त हो गया, तो मानो बन्दर को शराब पिला दी गई। और यदि योगा-योग से राज-सत्ता भी मिल गई, तब तो कहना ही क्या है। ऐसी अवस्था के लिए तो तुलसीदासजी की यह युक्ति —

ग्रह-ग्रहीन पुनि वात-वश, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पिआइय वारुणी, कहहु कवन उपचार॥
कह देना ही पर्याप्त है! एक और कवि ने कहा है:—

यौवनं धन सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय, किमुयत्र चतुष्टयम्॥

अर्थात्—जवानी, धन-सम्पत्ति, प्रभुता और अज्ञानता, इनमे से प्रत्येक अनर्थकारी है। जहाँ ये चारो एकत्र हों, वहाँ की तो बात ही न पूछिये।

युवावस्था मे मत्त-मनुष्य, प्राय काम-भोग मे विशेष रत रहता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उसे बहुत कम ध्यान रहता है। उसका ध्यान तो केवल स्त्रियों के सौन्दर्य, उनके हाव-भाव आदि मे ही रहता है और उसके समय का विशेष भाग इन्हीं कार्यों में ... होता है। पुरुष की ऐसी अवस्था मे, यदि स्त्री भी इसी ... की प्राप्त हो गई, वह भी युवावस्थावश काम-भोग की चेरी गई, तब तो पुरुष के साथ वह स्वयं भी विलास के भारी गड्ढे जा गिरती है और अपना तथा अपने पति का नाश कर लेती है। किन्तु, यदि कहीं सावधान तथा विवेकवान—स्त्री हुई, तो वह पति को भी विलास मे डूबने से बचा लेती है और आप स्वयं भी बच जाती है।

इस युवावस्था रूपी पिशाचिनी ने, हरिश्चन्द्र को भी धर दबाया। यद्यपि उसने हरिश्चन्द्र को विलास-प्रिय बना दिया, परन्तु वह पर-स्त्री की ओर उनका ध्यान ले जाने मे असमर्थ रही। हाँ, अपनी नव-विवाहिता परमसुन्दरी रानी तारा के मोहपाश मे

हरिश्चन्द्र अवश्य ऐसे बँध गये, कि उन्हे बिना तारा के, सारा संसार सूना दिखाई देने लगा। तारा, उनकी आँखो का तारा बन गई और बिना तारा के उन्हे एक घड़ी भी कटनी मुश्किल जान पड़ने लगी। इस समय, महाराजा-हरिश्चन्द्र, केवल स्त्री-सुख को ही सुख मान बैठे। उठते-बैठते, खाते-पीते, उन्हे तारा ही तारा की धुन लगी रहती। देश और राज्य मे क्या होता है, कर्मचारी-गण प्रजा के साथ कैसा व्यवहार करते हैं, प्रजा सुखी है या दुखी, आदि बातो की उन्हे किंचित भी चिन्ता न रही।

राजा, जब स्वयं प्रजा की ओर से उदासीन होकर विलास मे डूब जाता है, तब प्रजा और देश की क्या दशा होती है, इसके इतिहास में अनेको प्रमाण मौजूद हैं। यहाँ पर भारत-सम्राट् पृथ्वीराज चौहान और महाराणा उदयसिह का नाम ले लेना ही पर्याप्त है। हरिश्चन्द्र के विलासी बन जाने और राज्यकार्य न देखने से भी यही दशा होने लगी। प्रजा का धन शोषण करके, कर्मचारीगण अपना हित-साधन करने लगे और प्रजा के सुख-दु ख की चिन्ता करनेवाला कोई न रहा।

महाराजा हरिश्चन्द्र, जैसे-जैसे विलास-मग्न होते जाते, वैसे ही वैसे उनकी कान्ति, सुन्दरता, वीरता, धीरता, बुद्धि, बल, आदि का भी नाश होता जाता था। किसी कवि ने कहा है—

कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग भृङ्ग मीनाः हताः पञ्चभिरेव पंच।
एकः प्रमादी सकथ न हन्यते यः सेवते पचभिरेव पंच॥

अर्थात्—हरिण श्रवण के विषय-सुख से, हाथी उपस्थेन्द्रिय के विषय-सुख से, पतङ्ग नेत्र के विषय-सुख से, भौरा नाक के

विषय-सुख से और मछली जीभ के विषय-सुख से नाश हो जाती है। तो, जो एक ही मनुष्य, इन पाँचो विषयो का सेवन करता होगा, वह बेमौत क्यो न मरता होगा ?

इसीके अनुसार, महाराजा-हरिश्चन्द्र, सब प्रकार से पतन के गहरे गह्वर की ओर जा रहे थे। उनको, इसका किंचित भी ध्यान न था, कि मैं नीचे की ओर जा रहा हूँ। वे तो यही सोचते थे कि संसार मे ऐसा आनन्द, दूसरा है ही नही। अर्थात्—इस पतन को ही वे आनन्द समझ रहे थे।

यद्यपि, राजा स्वयं विलासप्रिय बन चुके थे, लेकिन रानी तारा चतुर और विवेकवान थी; अतः उनपर विलासिता का वैसा प्रभाव न पड़ा। पति की दशा को देख, तथा दासियो के मुख से प्रजा के दु.ख, कर्मचारियो के अन्याय और राज्यकार्य न देखने के कारण, प्रजा द्वारा अपने पति की निन्दा को सुन, रानी को [illegible] हुआ कि जिस प्रजा के पीछे पति राजा और मै रानी कहलाती हूँ, जिस प्रजा के धन को हम अपने उपयोग मे लाते है, जिस प्रजा के दु ख को मिटा उसकी रक्षा करना पति का और उनके साथ ही मेरा कर्त्तव्य है, उस प्रजा के सुख-दु ख की चिन्ता न कर, अपने मौज-मजे मे पड़े रहना, नर्क को लेजानेवाली बात है। पति, मेरे ही कारण महल से बाहर नही जाते है, मेरे ही सौदर्य पर वे मुग्ध हो रहे है, अत मुझे और मेरे रूप-यौवन को शतशः धिक्कार है, जो मेरे पति को इस प्रकार चक्कर मे डालकर, कर्त्तव्य-भ्रष्ट कर रहा है, तथा उन्हे इस लोक मे कलंकित और परलोक मे दण्डनीय बना रहा है। 'मेरे सिर पर किस कार्य का बोझ है, मै राजा कैसे कहाता हूँ' आदि बातो का उन्हे ध्यान न रहने का कारण

मैं ही हूँ। मेरे ही कारण, आज सूर्यवंश की अखण्ड यश-कीर्ति में कलङ्क लग रहा है। जिन पति की आकृति देखते ही बन आती थी, जिनका चेहरा गुलाब के पुष्प की तरह सदा विकसित रहता था, जिनका शरीर हृष्ट-पुष्ट और सुडौल था, उन पति की आज क्या दशा है! इस समय वे केवल शृंगार ही शृंगार से सुन्दर दीखते है, वास्तविक सुन्दरता तो उन्हे छोड़ गई है और इसका कारण मै ही हूँ। मेरे ही प्रेम ने, पति के चन्द्र के समान सुखदायक-सौन्दर्य मे दाग लगाया है। लेकिन, क्या प्रेम ऐसी निकृष्ट वस्तु है? क्या प्रेम पतन की ओर ले जाता है? क्या प्रेम, सौन्दर्य का इस प्रकार घातक है? क्या प्रेमी मनुष्य कर्त्तव्य-पथ पर स्थिर नही रहता! नहीं-नहीं, ऐसा नही है! यदि प्रेम ऐसा होता, तो संसार मे कोई इसका नाम ही न लेता। प्रेम! प्रेम तो वह वस्तु है, जो उन्नति की ओर अग्रसर करता है, तेज, उत्साह और ज्ञान की वृद्धि करता है, बल-वीर्य की रक्षा करता है, उदारता और गम्भीरता को बढ़ाता है, तथा अपने कर्त्तव्य-पथ से कभी विचलित नही होने देता।

यह विचारते-विचारते, रानी गम्भीर चिन्ता-सागर मे निमग्न हो गई। वे विचारने लगीं, कि जब प्रेम बुरा नही है, तब पति की यह दशा होने का क्या कारण है! क्या स्त्री-प्रेम बुरा है? क्या स्त्रियो का प्रेम इतना निकृष्ट है? क्या स्त्रियो का जीवन इतना अधम है, कि उनसे प्रेम करनेवाला मनुष्य पतित हो जाता है? क्या स्त्रियो का प्रेम, अपने पति के यश-रूपी चन्द्रमा के लिये राहु के सदृश है? लेकिन यदि ऐसा होता, तो संसार में कोई स्त्रियो का नाम भी न लेता। स्त्रियो से सदा दूर रहा

और उन्हे विष के सदृश त्याज्य समझा जाता। फिर, मेरे पति के गौरव और सौन्दर्य पर कलंक लगने का क्या कारण है?

विचारते-विचारते रानी को ध्यान हुआ, कि इस कलङ्क से प्रेम का कोई सम्बन्ध नही है, इसका सम्बन्ध तो मोह से है। जिस प्रेम के लिये पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थापित होता है, वह प्रेम, तेज, उत्साह आदि का नाशक नही, अपितु वर्द्धक है। जो, तेज, उत्साह आदि का नाश करे, अज्ञानता, अकर्मण्यता आदि की वृद्धि करे, जिसके होने पर मनुष्य किसी एक वस्तु-विशेष के सिवा, संसार के दूसरे सद्कार्यों से दूर हो जाय, जो मनुष्य की मनुष्यता का ही लोप कर दे, उसका नाम मोह है, प्रेम नही। मुझ पर पति का प्रेम नही, वरन् मोह है, लेकिन मै अबतक इस बात को न समझ सकी और मेरी यह भूल ही, मेरे पति के यश-न्द्र मे कलङ्क लगानेवाली सिद्ध हुई है। मुझे, अब उचित ही नही, बल्कि मेरा कर्त्तव्य है, कि मैं पति के मोह को दूर कर, उन्हे र्त्तव्य-पथ पर स्थिर करूँ और उनके, अपने तथा कुल के कलंक धो डालूँ।

स्त्री, जिस प्रकार पति की सेविका होती है, उसी प्रकार वह ति की शिक्षिका भी हो सकती है। अच्छे कार्यों मे, पति की सहायता करना और उन्हे बुरे कामो से बचाना, पत्नी का कर्त्तव्य है। इसी कारण पत्नी, पति की धर्म-सहायिका मानी गई है। कर्त्तव्य पर स्थिर रहना ही धर्म है और उसमे सहायता देना पत्नी का मुख्य-कर्त्तव्य है। यदि, पति अपने कर्त्तव्य से हटकर अकर्त्तव्य मे तल्लीन हो रहा हो, तो उसे उचित-उपायो द्वारा कर्त्तव्य-पथ पर स्थिर करने का दायित्व, पत्नी पर है। इसी

प्रकार, पुरुष भी अपनी पत्नी को सुमार्ग पर लाने का जिम्मेदार है। ऐसी परिस्थिति मे किन और कैसे उपायों से काम लिया जा सकता है, आदि बातें तारा के चरित्र से प्रकट होगी। अस्तु।

रानी को यह मालूम होते ही, कि मेरे पति मुझपर मोहित हैं, और इसी से, वे प्रजा के सुख-दुःख आदि की ओर से बेखबर हैं, वे प्रजा की दशा जानने के लिये विकल हो उठीं। उनने, गुप्त-रीति से प्रजा के सुख-दुःख और राजा के विषय मे प्रजा के विचार जानने के लिए, दासियो को नगर मे भेजा।

नगर मे चारो ओर, राज्य की दुर्व्यवस्था की निन्दा हो रही थी। लोग कहते थे, कि रानी के प्राप्त होने पर राजा को राज्य की दशा सुधारनी चाहिए थी और प्रजा का दुःख दूर करके उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए था; परन्तु रानी के मिल जाने पर राजा स्वयं भी कामुक बन गया। वह, राज्य-कार्य की ओर तो दृष्टिपात भी नहीं करता। राज्य का कार्य तो नौकरो के भरोसे छोड़ रखा है। उसकी दृष्टि तो केवल रानी के नेत्रो की ओर रहती है।

प्रजा और राजा मे, पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध होता है। पुत्र, यदि अनीति करता हो, अपने कर्त्तव्य से पतित होता हो, तो पिता उसे शिक्षा द्वारा ऐसा करने से रोकता है। इसी प्रकार, पिता यदि कर्त्तव्य से पराङ्मुख और अनीति मे प्रवृत्त होता हो, तो नीति, पिता के भी ऐसे कार्यों का विरोध करने की आज्ञा देती है। उस समय की प्रजा, अपने और राजा के कर्त्तव्य को भली प्रकार जानती थी, अतः उसे राजा के विरुद्ध, ऐसा कहने मे किंचित भी भय न हुआ। जहाँ आज की प्रजा, राजा के

अनेक अन्यायो का भी विरोध नहीं करती, यहाँ तक कि प्रजा की पुत्रियो और कुलवधुओ के सतीत्व हरण करने पर भी, राजा को अन्यायी कहने का साहस नहीं कर सकती, वहाँ उस समय की प्रजा को, अपनी ही स्त्री के मोहजाल मे फँसे हुए राजा की, कटु-आलोचना करने मे कुछ भी भय न था। इस अन्तर का कारण, अपने कर्त्तव्य को न समझना और उस पर स्थिर न रहना है। मनुष्य, जबतक स्वयं सच्चरित्र न हो, स्वयं नीति और धर्म का पालन न करता हो, तबतक दूसरे के दुराचार, अनीति और अधर्म का विरोध नही कर सकता।

दासियो ने प्रजा के मुख से जो कुछ सुना था, वह रानी को आ सुनाया। रानी, प्रजा की बातो को सुनकर, प्रजा की प्रशंसा करने लगी, तथा अपने पति का मोह दूर करने के लिए और भी अधीर हो उठो। लेकिन, इसके साथ ही उन्हे यह चिन्ता और हो गई, कि पति का मोह किस प्रकार दूर किया जाय।

बड़े आदमियो को कुमार्ग से सुमार्ग पर लाना उतना ही कठिन है, जितना कठिन सूखी लकड़ी को झुकाना। उसमे भी फिर राजाओ का सुधारना, कि जिनकी हठ प्रसिद्ध है। लेकिन, उद्योगी-मनुष्य के लिये कोई कार्य असम्भव नही है। असम्भव, किस वस्तु का नाम है, इसे उद्योगी मनुष्य जानते हो नही। उनका तो सिद्धान्त रहता है:—

"देहं *पातयामि वा कार्यं साधयामि*"

अर्थात्—या तो कार्य सिद्ध करके ही छोड़ेगे, अथवा उसी पर मर मिटेगे।

रानी विचारने लगीं, कि मैं पति को किस प्रकार सुमार्ग पर लाऊँ! अन्त में, उन्होंने पति का मोह मिटाने के लिए उपाय विचार लिया और उस उपाय को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए उद्यत होगईं।
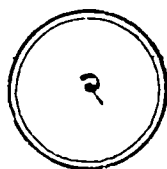
मोहनाश का उपाय

उत्तम मनुष्य, दूसरो को सुमार्ग पर लाने के लिए–दूसरो को सुधारने के लिए—स्वयं कष्ट सहन किया करते हैं। जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनके जीवन-चरित्रो से यह बात भली प्रकार सिद्ध है, कि उन महापुरुषो ने जो दु ख उठाया है, वह दूसरो को सुधारने के लिए, दूसरो को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर लाने के लिए। स्वयं कष्ट सहकर, त्याग दिखलाकर एवं स्वयं आचरण करके जो उपदेश दिया जाता है, जो आदर्श उपस्थित किया जाता है, उसका प्रभाव अचूक और स्थायी होता है। जो लोग केवल दूसरो को उपदेश देने मे कुशल हैं, लेकिन अपनेआपको उन उपदेशों से अकारण ही मुक्त समझते है, ऐसे लोगो के उपदेश निरर्थक सिद्ध होते है, तथा उनसे कोई लाभ नही होता। आज के अधिकांश उपदेशक, शिक्षक, अधिकारी और नेताओ मे यह दोष सुना जाता है, यही कारण है कि वे अपने उपदेशो द्वारा सुधार करने मे, तथा जनता को कुमार्ग से हटा, सुमार्ग पर लाने मे असफल होते हैं।

बहुत से लोग, दूसरो के दुर्गुण मिटाने के लिए स्वयं भी

दुर्गुणो से काम लेते हैं; लेकिन दुर्गुण से दुर्गुण मिटते नहीं, वरन् बढ़ते हैं। जैसे—किसी मे क्रोध का दुर्गुण है। अब इस क्रोध के दुर्गुण को दूर करने के लिए-यदि क्रोध से ही काम लिया जाय, और उस क्रोधी-मनुष्य को ताड़नादि दण्ड दिये जायँ, तो उसका यह दुर्गुण, घटने की जगह बढ़ेगा, नाश होने की जगह वृद्धि प्राप्त करेगा और निर्मूल होने के बदले विशाल रूप धारण करेगा। उसके नाश के लिए तो क्षमा और शान्ति का प्रयोग करना ही उचित है।

आज के अधिकांश पति-पत्नी भी, एक दूसरे के दुर्गुण को दूर करने के लिए किसी न किसी दुर्गुण से ही काम लेते सुने जाते हैं; लेकिन ऐसा करने पर वे असफल ही नहीं रहते, बल्कि उसके दुर्गुण की वृद्धि में सहायक बन जाते हैं। अत. दुर्गुण के प्रतिपक्षी सद्गुण ही दुर्गुणो का नाश करने मे समर्थ हैं। सद्-गुणो का आदर्श उपस्थित करने पर ही, दुर्गुण नाश होते हैं और सद्गुणों की सहायता से ही, मनुष्य दुर्गुण छुड़ाने के कार्य मे सफल हो सकता है।

रानी विचार करती हैं, कि प्राणनाथ को मोह मे फँसाने, उन्हे अपने कर्त्तव्य से पतित करने, उनके शारीरिक सौन्दर्य और नैसर्गिक-गुणो को नाश करने का कारण, मैं ही हूँ। मेरी ही हँसी, मेरा ही शृंगार, मेरा ही राग-रंग, पति के लिये घातक हुआ है। इन्होंने मेरे पति को मोहावस्था मे डाल रक्खा है। मोह को नाश करने का उपाय, त्याग है। त्याग का आदर्श उपस्थित करने से ही, मोह का नाश हो सकता है। अत. मैं इस त्याग को ही अपनाऊँगी और हँसी शृंगार, राग-रंग आदि विलासवृद्धिकारक कार्यो को छोड़, अपने

जीवनधन, अपने हृदयेश्वर, अपने प्राणाधार को मोह के दलदल से निकाल, संसार को दिखला दूंगी, कि स्त्री-प्रेम कैसा होता है! स्त्रियाँ क्या कर सकती है और स्त्रियों का कर्तव्य क्या है! मैं, स्वयं विलासिता को त्याग, विलासिता उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं तथा ऐसे कार्यों को तिलांजलि दे, अपने पति को मोहावस्था से जागृत करूँगी। मैं, वैरागिन नही बनूँगी, परन्तु उस शृङ्गार को, उन आभूषणों को, उस हँसी-कटाक्ष आदि को, जो मेरे पति के मस्तक पर, मेरे श्वसुर के निर्मल वंश पर, जो एक राजा के कर्तव्य पर, जो पुरुष के पुरुषार्थ पर कलङ्क लगा रहे है, अवश्य त्याग दूँगी। मै, पति की दासी हूँ; पति मुझे प्राणो के समान प्रिय है, वे मेरे ईश्वर के समान पूज्य है, अत. उनसे प्रेम नही त्याग सकती, न रूठ ही सकती हूँ; परन्तु उन्हे मोहावस्था से सचेत करने के लिए, उनकी मोह-निद्रा को भङ्ग करने के लिए, उन पर लगे हुए कलङ्क को धो डालने के लिए, मै प्रकट मे वह रूप धारण करूँगी, जो रूठने के अन्तर्गत कहा जा सकता है। इतना ही नही, मै मरणान्तक कष्ट-सहकर भी अपने पति को कर्तव्य-परायण बनाऊँगी। उन्हे अपनी भूल दर्शाऊँगी, और उन्हे सुधारकर, उनकी गणना नीतिज्ञ तथा प्रजा-वत्सल नरेशो से कराऊँगी। साथ ही, स्त्री-जाति के लिए आदर्श भी उपस्थित कर दूँगी, कि अपने आराध्य-देव पति को किस प्रकार नम्रता, त्याग और तपस्या से सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। मै, अपने पति की हित-कामना से उनकी शिक्षिका बनूँगी। उन्हे ताड़ना से नही, त्याग से, प्रत्यक्ष मे नही, परोक्ष मे, और अस्थायी नही, बल्कि वह स्थायी शिक्षा दूँगी, कि कुछ ही समय पश्चात् वे स्वयं मेरी प्रशंसा करे।

कहाँ तो आज की वे स्त्रियें, जो पति को अपने मोह-पाश में आबद्ध रखने के लिए अनेक उपाय करती हैं, देवी-देवताओं की मिन्नतें लेती हैं—जादू-टोना कराकर पति को वश में रखने की चेष्टा करती हैं—और पति को अपने वश में पाकर—पति को अपना आज्ञाकारी सेवक जानकर—प्रसन्न होती हैं, अपना गौरव समझती हैं और उनके तथा अपने सर्वनाश का कुछ भी ध्यान नहीं रखतीं; और कहाँ तारा, जो पति को अपने मोहपाश से छुड़ाने—उन्हें कर्त्तव्य-पथ पर स्थिर करने और कलङ्क से बचाने—का उपाय कर रही हैं। तारा के समान स्त्रियों के चरित्र ने ही, आज भारतीय स्त्री-समाज को गौरवान्वित कर रखा है।

देखते ही देखते, रानी ने उन वस्त्राभूषणों को, जिन्हें वे शृङ्गार के निमित्त बड़े चाव से पहनती थीं—जिनके धारण करने पर उनकी सुन्दरता, सोने में सुगन्ध की तरह बढ़ जाती थी, जो उन्हें आज तक विशेष प्रिय थे, जिन्हें वे अपने रूप-लावण्य की वृद्धि में सहायक मानती थीं—एक दम फेंक दिये और ऐसे साधारण वस्त्राभूषण धारण किये, कि जो आवश्यक न थे, तथा जिनसे वे कभी प्रेम न करती थीं। उन्होंने, यह कार्य उसी प्रकार कर डाला, जैसे साँप एक केंचुल को त्यागकर दूसरी को धारण किया करता है। उन्होंने, अपने चेहरे को हँसी और प्रफुल्लता को भी एक दम गम्भीरता में परिवर्तित कर दिया।

रानी को, शरीर के उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण त्यागते देख, दासियाँ घबरा उठीं। रानी के गम्भीर चेहरे को देखकर तो, उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे, रानी से सविनय पूछने लगीं, कि आज आप यह क्या कर रही हैं? वस्त्राभूषण क्यों फेंक

रही हैं और आपके स्वभाव तथा आकृति के इस अचानक-परिवर्तन का कारण क्या है? रानी से इसका कोई उत्तर न पा, वे फिर कहने लगी, कि आप इन्हे धारण कीजिये और अपनी गम्भीरता का कारण बताइये; लेकिन रानी आज वस्त्राभूषणों की दासी रहनेवाली—कृत्रिम-उपायो द्वारा अपने सौंदर्य को बढ़ानेवाली—हंसी-खुशी द्वारा अपने पति को पतनावस्था मे ढकेलनेवाली न रही थी। वल्कि आज उनके विचार इसके विपरीत थे। उनने दासियो पर कृत्रिम-क्रोध प्रकट करते हुए, उन्हें भिड़ककर कहा, कि मुझे इनकी आवश्यकता नही है और भविष्य के लिए भी मै तुम लोगो को सचेत किये देती हूँ, कि मेरे पास ऐसी कोई वस्तु न लाई जाय।

जो रानी, सदा राग-रंग मे मत्त रहती थी, जिनका चेहरा सदा प्रसन्न रहता था, गम्भीरता या चिन्ता के चिन्ह जिनके चेहरे पर कभी न देखे जाते थे, वस्त्राभूषणादि शृङ्गार जिन्हे बहुत प्रिय थे, उन रानी के स्वभाव मे एक दम ऐसा परिवर्त्तन देख और उनका यह उत्तर सुन, दासियो की घबराहट और भी बढ़ी। वे, रानी के ऐसा करने के कारण का अनुमान भी न कर सकी और विचारने लगी, कि आज रानी को क्या हो गया, जो उनने योगिनियो की तरह वैराग्य दशा धारण की है और इस प्रकार गम्भीर बन गई हैं। दासियो ने दौड़कर, रानी के स्वभाव-परिवर्त्तन की सूचना, राजा को दी। यह संवाद पाते ही, राजा अपनी सुखदात्री रानी की चिन्ता मे अधीर हो उठे और तत्क्षण रानी के महल मे आये। रानी की ऐसी दशा देख, राजा की चिन्ता और आश्चर्य का ठिकाना न रहा। रानी की मुख-मुद्रा

देख, राजा विचारनेलगे कि, आज जैसा चेहरा तो मैंने कभी न देखा था, आज चेहरे में इतना परिवर्त्तन होने का कारण क्या है?

तुलसीदासजी ने कहा है—

सुरपति बसहिं बाहुबल जाके नरपति सकल रहहिं रुख ताके॥
सो सुनि तिय रिसि गयउ सुखाई, देखहु काम प्रताप बडाई॥
शूल, कुलिश, असि, अँगवनिहारे, ते रतिनाथ सुमन-शर मारे॥

अर्थात—जिसकी भुजाओं के बल की सहायता से इन्द्र बसे हुए हैं, सारे राजा जिसका रुख देखते रहते हैं, वह स्त्री के क्रोध को सुनकर सूख गया, यह कामदेव के प्रताप की बडाई है। जिस शरीर के छेदने में शूल, वज्र और तलवार हार मान गई, वह शरीर कामदेव के पुष्प-बाण से मारा जा रहा है।

तात्पर्य यह, कि कितना ही वीर पुरुष क्यों न हो, किन्तु यदि वह कामी है, तो अपनी प्रिय-स्त्री को रुष्ट जान, अवश्य ही घबरा जाता है और उसका धैर्य छूट जाता है। किसी कवि ने कहा है —

व्याकीर्ण केशर करालमुखा मृगेन्द्रा,
नागाश्च भूरि मदराजिविराजमानाः।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः,
स्त्री सन्निधौ परम कापुरुषा भवन्ति॥

अर्थात्—गर्दन पर बिखरे हुए बालोंवाला करालमुखी सिंह, अत्यन्त मतवाला हाथी और बुद्धिमान समर-शूर पुरुष भी स्त्रियों के आगे परम-कायर हो जाते हैं।

इसीके अनुसार, राजा हरिश्चन्द्र भी रानी की इस दशा

रही हैं और आपके स्वभाव तथा आकृति के इस अचानक-परिवर्तन का कारण क्या है ? रानी से इसका कोई उत्तर न पा, वे फिर कहने लगी, कि आप इन्हे धारण कीजिये और अपनी गम्भीरता का कारण बताइये; लेकिन रानी आज वस्त्राभूपणो की दासी रहनेवाली—कृत्रिम-उपायो द्वारा अपने सौंदर्य को बढ़ानेवाली—हंसी-खुशी द्वारा अपने पति को पतनावस्था मे ढकेलनेवाली न रही थी। वल्कि आज उनके विचार इसके विपरीत थे। उनने दासियो पर कृत्रिम-क्रोध प्रकट करते हुए, उन्हे झिड़ककर कहा, कि मुझे इनकी आवश्यकता नही है और भविष्य के लिए भी मै तुम लोगो को सचेत किये देती हूँ, कि मेरे पास ऐसी कोई वस्तु न लाई जाय।

जो रानी, सदा राग-रंग मे मत्त रहती थी, जिनका चेहरा सदा प्रसन्न रहता था, गम्भीरता या चिन्ता के चिन्ह जिनके चेहरे पर कभी न देखे जाते थे, वस्त्राभूषणादि शृङ्गार जिन्हे वहुत प्रिय थे, उन रानी के स्वभाव मे एक दम ऐसा परिवर्त्तन देख और उनका यह उत्तर सुन, दासियो की घवराहट और भी वढ़ गई। वे, रानी के ऐसा करने के कारण का अनुमान भी न कर सकीं और विचारने लगी, कि आज रानी को क्या हो गया, जो उनने योगिनियो की तरह वैराग्य दशा धारण की है और इस प्रकार गम्भीर बन गई हैं। दासियो ने दौडकर, रानी के स्वभाव-परिवर्त्तन की सूचना, राजा को दी। यह संवाद पाते ही, राजा अपनी सुखदात्री रानी की चिन्ता मे अधीर हो उठे और तत्क्षण रानी के महल मे आये। रानी की ऐसी दशा देख, राजा की चिन्ता और आश्चर्य का ठिकाना न रहा। रानी की मुख-मुद्रा

देख, राजा विचारनेलगे कि, आज जैसा चेहरा तो मैंने कभी न देखा था, आज चेहरे मे इतना परिवर्त्तन होने का कारण क्या है?

तुलसीदासजी ने कहा है:—

सुरपति बसहिं बाहुबल जाके नरपति सकल रहहिं रुख ताके ॥
सो सुनि तिय रिसि गयउ सुखाई, देखहु काम प्रताप बडाई ॥
शूल, कुलिश, असि, अँगवनिहारे, ते रतिनाथ सुमन-शर मारे ॥

अर्थात्—जिसकी भुजाओं के बल की सहायता से इन्द्र बसे हुए हैं, सारे राजा जिसका रुख देखते रहते है, वह स्त्री के क्रोध को सुनकर सूख गया, यह कामदेव के प्रताप की बड़ाई है। जिस शरीर के छेदने मे शूल, वज्र और तलवार हार मान गई, वह शरीर कामदेव के पुष्प-बाण से मारा जा रहा है।

तात्पर्य यह, कि कितना ही वीर पुरुष क्यो न हो, किन्तु यदि वह कामी है, तो अपनी प्रिय-स्त्री को रुष्ट जान, अवश्य ही घबरा जाता है और उसका धैर्य छूट जाता है। किसी कवि ने कहा है.—

व्याकीर्ण केशर करालमुखा मृगेन्द्रा,
नागाश्च भूरि मदराजिविराजमानाः ।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः,
स्त्री सन्निधौ परम कापुरुषा भवन्ति ॥

अर्थात्—गर्दन पर बिखरे हुए बालोवाला करालमुखी सिंह, अत्यन्त मतवाला हाथी और बुद्धिमान समर-शूर पुरुष भी स्त्रियो के आगे परम-कायर हो जाते हैं।

इसीके अनुसार, राजा हरिश्चन्द्र भी रानी की इस दशा

को देखकर सहम उठे। राजा ने, कामी-पुरुषों के स्वभावानुसार, डरते हुए रानी से पूछा—आज तुम्हें क्या हुआ है ?

तारा—क्या हुआ नाथ! आप यह प्रश्न किस बात को देखकर कर रहे हैं ?

हरिश्चन्द्र—जिस शरीर पर, तुम सदा शृंगार सजाये रहती थी, जो अंग-प्रत्यंग आभूषणों से लदे रहते थे, वे आज शृंगार और आभूषण से विहीन क्यों हैं ? तुम्हारा वह मुख, जो सदा प्रफुल्लित रहता था, आज गम्भीर क्यों देख पड़ता है ? तुम्हारी वह मधुर-मुसकान, जो मेरे मन को सदा विवश रखती थी, आज कहाँ छिप गई ? प्रिये! मैं यह जानने के लिए अत्यन्त व्याकुल हूँ, कि तुम मुझे देखकर सदा जो हाव-भाव दिखलाया करती थी, उन हाव-भाव ने आज निठुरता का रूप कैसे धारण किया ? एक राज्य की महारानी होकर, उदासीनता धारण करने का क्या कारण है ?

तारा—स्वामिन्! बस करो। झूठा प्रेम जताने के लिये इस प्रकार प्रशंसा न करो।

हरिश्चन्द्र—झूठा प्रेम कैसा ? क्या मेरा यह प्रेम कृत्रिम है ? वास्तविक नहीं है ? क्या मैं तुमसे प्रेम नहीं करता हूँ ?

तारा—नहीं नाथ, कदापि नहीं। आप, मुझसे यदि सच्चा प्रेम करते होते, तो मुझे ऐसा कहने का अवसर ही क्यों आता ?

हरिश्चन्द्र—यह तुमने कैसे जाना, कि मैं तुमसे प्रेम नहीं करता हूँ ? आज, मेरे प्रेम के विषय में तुम्हें शङ्का होने का या कारण है ? तुम्हारे ऊपर तो मैंने, राज-पाट भी न्यौछावर

कर दिया, उस ओर कभी देखता भी नही, सदा तुम्हारे प्रेम का भिखारी बना रहता हूँ, तुम्हारे प्रेम के लिए संसार को भी कुछ नही समझता, और कहाँ तक कहूँ, यदि आराध्य-देवी हो तो तुम्ही हो, फिर यह शङ्का कैसी ?

रानी—स्वामी, अब मै आपके इस झूठे भुलावे मे नही आ सकती। मैं, अब तक यह समझती रही, कि आप मुझसे प्रेम करते हैं, परन्तु मेरा यह समझना केवल भ्रम था।

रानी की बातो को सुनकर, राजा विचार मे पड़ गये, कि जो रानी सदा विनम्र रहती थी, बात का उत्तर देना तो दूर रहा, कभी सन्मुख बोलती भी न थी, उस रानी को आज क्या होगया, जो वह इस प्रकार की बाते कर रही है। राजा ने, दासियो से, रानी के स्वभाव मे इस प्रकार परिवर्तन होने का कारण पूछा, परन्तु दासियाँ क्या उत्तर देती ? राजा ने भी बहुत विचारा, लेकिन ऐसा होने का कोई कारण उनकी समझ मे न आया। अत॰ विवश हो, राजा ने फिर रानी से पूछा—तुम्हारा चित्त कैसा है ?

तारा—क्या मैने कोई दुर्वाक्य कहे है ? या कोई विक्षिप्तता की बात कही है, जो आपने यह प्रश्न किया ?

राजा—यदि तुम्हारे चित्त मे कोई विषमता नहीं है, तो ऐसी बाते करने का क्या कारण है ? और तुम्हारा वह प्रेम-व्यवहार, तुम्हारा वह सौन्दर्य, तुम्हारा वह शृङ्गार क्यो लुप्त हो गया ?

तारा—मै भ्रम वश आपके द्वारा किये गए जिस अनादर को आदर और आपके जिस व्यवहार को प्रेम समझती थी, उनका असली तत्त्व अब मैं समझ चुकी हूँ। वह मेरा भ्रम, मिट

चुका है। मैं अब समझ गई, कि आपकी दृष्टि मे मेरा उतना भी आदर नहीं है, जितना एक दासी का होता है; और आप मेरे प्रति जिस प्रेम का प्रदर्शन करते रहते हैं, वह असली नहीं, अपितु बनावटी है। बस, वह भ्रम भी नष्ट होते समय, अपने साथ उन सब बातो को लेता गया।

हरिश्चन्द्र—मै नहीं जानता, कि मैने तुम्हारा किस समय अनादर किया! तुमने जो बात कही, जो इच्छा की, उसके मानने और करने मे मै कब उदासीन रहा और तुमने किस समय परीक्षा ली, जिसमे मेरा प्रेम बनावटी सिद्ध हुआ ? तुम्हे तो मैं, अपना तन, मन, धन भी समर्पण कर चुका हूँ, केवल तुम्हारे ही प्रेम के आधार से मेरा जीवन है, फिर मैं बनावटी-प्रेम कैसे करता हूँ ? क्या मैने तुम्हे कभी इच्छित-वस्तु नहीं ला दी ? क्या मैने तुम्हारे वस्त्राभूषण, दास-दासी आदि मे कभी कमी की है ? क्या मैने तुम्हे कभी अपशब्द कहे हैं ? यदि नहीं, तो फिर तुमने कैसे जाना, कि मै तुम्हारा निरादर करता और तुमसे सच्चा प्रेम नहीं करता हूँ ?

तारा—स्वामी, मेरी इच्छित-वस्तु, मेरे शृङ्गार, मेरे आभूषण आप ही है और मै स्वयं आपकी दासी हूँ, मुझे दास-दासी की क्या आवश्यकता ? लेकिन यदि आपका मुझ पर प्रेम है, आप मेरा सम्मान करते है, आपके हृदय मे मेरे लिए स्थान है, तो परीक्षा के लिए आज मै एक छोटी-सी प्रार्थना करती हूँ। यदि, मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करके, आपने मेरा मनोरथ पूर्ण कर दिया, तो मै समझ जाऊँगी कि, आपके लिए यह मेरी भूल थी और भूल का मै पश्चात्ताप भी कर डालूँगी।

हरिश्चन्द्र—तुम जो कुछ कहो, जिस कार्य या वस्तु की इच्छा करो, यदि मै उसके लाने या करने में असमर्थ रहा, तो अपने आपको अयोग्य समझूंगा।

तारा—हृदयेश्वर, आप एक बार पुनः विचार कर लीजिये, तब ऐसा प्रण कीजिये।

हरि०—मैं विचार चुका और अच्छी तरह विचार चुका, तुम अपनी इच्छा शीघ्र प्रकट करो।

तारा—प्रभो, मैं अपनी प्रार्थना सुनाने से पहले आपको अपना प्रण भी सुनाये देती हूँ। मैं, आपके सन्मुख प्रतिज्ञा करती हूँ, कि जबतक मेरी प्रार्थना स्वीकार न होगी, मेरी इच्छित-वस्तु मुझे प्राप्त न होगी, तबतक मै आपसे भेंट न करूँगी। आपसे, मेरी भेंट तभी होगी, जब मेरी मनोकामना आप पूर्ण कर देंगे।

हरि०—तुम्हारा यह प्रण भी स्वीकार है। अब, तुम अपनी इच्छा प्रकट करने मे देर न करो।

रानी की इन बातो से, राजा समझ रहे है, कि रानी किसी वस्त्राभूषण की इच्छुक है, और उन्हे प्राप्त करने के लिए ही, उसने यह प्रपंच रचा है। उन्हें, यह नहीं मालूम है, कि रानी ने मुझे जागृत करने के लिए ही ऐसा किया है और यह जो वस्तु मांगेगी, उसे न ला सकने के कारण, मै रानी के प्रेम से वञ्चित रहूँगा।

हरिश्चन्द्र के वार-बार उत्सुकता प्रकट करने पर, रानी ने कहा—प्राणनाथ! मुझे एक ऐसे मृग-शिशु की आवश्यकता है, जिसकी पूँछ सोने की हो। मैं, उस मृग-शिशु से, रोहित का एक

खेल कराऊँगी और उस खेल से क्या लाभ है, यह मैं आपसे तभी बताऊँगी।

हरि०—बस, इतनी ही सी बात के लिए तुमने निष्ठुरता का रूप धारण किया था ? यही छोटी-सी बात, मेरे प्रेम की परीक्षा है ? मै, ऐसे एक नहीं, अनेक हरिण के बच्चे तुम्हे मगवाये देता हूँ।

तारा—नहीं नाथ, दूसरे से मँगवाया हुआ हरिण का बच्चा, मै कदापि न लूँगी; मैं तो वही सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा लूँगी, जिसे आप स्वयं लावे।।

हरि०—अच्छी बात है, मै स्वयं ही जङ्गल से पकड़कर लादूँगा।

तारा—लेकिन स्वामी, एक बात और है। वह यह, कि जब तक आप ऐसा मृग-शिशु न लावे, तबतक मेरे निवास-भवन मे न पधारने की कृपा करे। आप, मेरे निवासस्थान में उसी समय पधारे, जब मेरी मंगाई हुई वस्तु प्राप्त कर चुके।

राजा, आवेशवश रानी की इस बात का उत्तर 'ठीक है' देते हुए अपने महल को चले गये। उनको विश्वास है, कि मै रानी की इस परीक्षा मे, असफल नही रह सकता, और एक के बदले, कई सोने की पूँछवाले हरिण के बच्चे जङ्गल से पकड लाऊँगा। प्रेमावेश के वश होने के कारण, राजा ने इस बात का विचार भी नहीं किया, कि रानी मृग-शिशु मॉग रही है, वैसा, अर्थात्-सोने की पूँछवाला मृग या मृग-शिशु संसार मे होता भी है, या नहीं ! वे तो इसी विचार मे है, कि मैं शीघ्र ही रानी की इच्छा पूर्ण कर न' प्रेम प्राप्त करूँ।

रानी के विचार, राजा को सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा माँगकर और स्वयं ही लाने के लिए वचन-बद्ध करके कष्ट मे डालने के नही हैं, वरन् उनका अभिप्राय, इस बहाने राजा को जङ्गल मे भेजने का है। राजा, एक विशेष-समय से, महल से वाहर नहीं निकले हैं, वन की वायु, वन के दृश्य और वन-भ्रमण के लाभ को, वे विस्मृत-सा कर चुके हैं; अत. रानी को, इन सब का उन्हे पुन अनुभव कराना अभीष्ट है। वे, विचारती हैं, कि महल मे ही पड़े रहने के कारण, राजा की जो कान्ति घट गई है, राजा का जो उत्साह नष्ट-प्राय होगया है, वह वन मे कुछ समय रहने से, वृद्धि प्राप्त करेगा। वन के दु खो को सहने से, इन्हे दु'ख का अनुभव होगा और उसके साथ ही मुझ पर, इनका जो मोह है, वह भी कम हो जायगा।

मृग-शिशु की खोज

वस्तु का आदर, उसकी न्यूनता मे होता है, बाहुल्य मे नही। जिन भोजन-वस्त्रादिक को, धनिक लोग तुच्छ समझते है, वेही दीनो के लिये महान है और प्राप्त होने पर, वे उस वस्तु का बड़ा सत्कार करते हैं, तथा अपनेआप को धन्य मानते है। जिस जल की बाढ़ से, अन्य प्रान्तवाले दु.खी हो जाते है, उसी जल की, मरु-भूमि के लोग अमृत के समान इज्जत करते हैं। तात्पर्य यह, कि जब वस्तु की कमी होती है, तभी उसकी कदर होती है। छाया के सुख को वही जानता है, उसका आनन्द वही भली प्रकार समझता है, और उसका सत्कार भी वही करता है, जो ताप के दु.ख से दु:खी हो।

महाराजा हरिश्चन्द्र, अपनी रानी के माँगे हुए सोने की पूँछ-वाले हरिण के बच्चे की खोज मे, वन को चले। वन मे पहुँचने पर वहाँ की सघन-छाया, शीतल-हवा और पक्षियो के कल-रव से, राजा का चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ। वे विचारने लगे, कि मैंने इतने दिनतक महल मे रहकर, जो पंखे झलवाये, जिन गान-वाद्य को श्रवण करता रहा, वे इस प्राकृतिक त्रिविध-पवन और इन पक्षियो के गान के सन्मुख तुच्छ हैं। अस्तु।

मनुष्य के हृदय के विचारो का प्रभाव, उसकी आकृति पर बिना पड़े नही रहता। उसके हृदय मे जो भी विचार होते है, उनकी एक झलक चेहरे पर अवश्य दीख पड़ती है। वधिको को देखकर ही जो हरिण चौकड़ी भरने लगते है, वेही हरिण राजा के अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होते हुए भी, उनसे इस प्रकार निर्भय है, जैसे उनके पाले हुए हो। राजा की ओर वे अपने नेत्रो से इस प्रकार देखकर प्रसन्न हो रहे है, मानो राजा इनके परिचित हो, अतः उन्हे देखकर प्रसन्नता प्रकट कर रहे हों और उनकी ओर अपने निर्मल-नेत्रो से देख, उनका स्वागत करते हो। अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित राजा का इन्हे किंचित् भी भय नही है, जैसे इन्हे भी हिंसक-अहिंसक, उपकारी-अपकारी और वधिक तथा रक्षक का ज्ञान हो; या उसकी आकृति से ये समझ लेते हो।

महाराजा-हरिश्चन्द्र, इन मृगो के नेत्रो की तुलना रानी के नेत्रो से करते हुए विचारते है, कि जिन नेत्रो की उपमा देकर मै रानी को मृगनयनी कहा करता हूँ, उन नेत्रो मे और रानी के नेत्रो मे तो बड़ा ही अन्तर है। कहाँ तो इन बेचारे मूक-पशुओ के निष्कपट-नेत्र और कहाँ रानी के कपट भरे नेत्र। कहाँ तो इनके नेत्रो में भरा हुआ प्रेम का सरोवर और कहाँ रानी के नेत्रो की वह निठुरता। कहाँ इनके ये नेत्र, जिनसे ये मुझको इस प्रकार देख रहे हैं, मानो मुझे देखकर अपने नेत्रों को सफल मान रहे हो, और कहाँ रानी के वे नेत्र, जो अनुनय-विनय पर भी मेरी ओर नहीं होते, तथा जिनसे कभी-कभी अग्नि के समान क्रोध बरसता है। हाय-हाय। मैंने इनके नेत्रो की उपमा रानी के नेत्रो को देकर, इनके साथ बड़ा ही अन्याय किया है।

यह विचारते-विचारते, महाराजा-हरिश्चन्द्र को, अपने कार्य का ध्यान हुआ। वे, हरिणों के झुण्ड में, सोने की पूँछवाला बच्चा देखने लगे, परन्तु उन्हे एक भी हरिण का बच्चा ऐसा न दिखा, जिसकी पूँछ सोने की हो। राजा, सोने की पूँछवाले हरिण के बच्चे की खोज मे और आगे बढ़े। जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते जाते थे, वन-श्री के प्राकृतिक-सौन्दर्य को देख-देखकर, प्रसन्न होते जाते थे। सुगन्ध-युक्त शीतल-पवन के लगने से, राजा मे एक नवीन-स्फूर्ति आती जाती थी। वन का सुख, राजा के हृदय के उस खेद को, जो रानी के व्यवहार से उत्पन्न हुआ था, मिटाता जाता था।

यद्यपि, वनदेवी ने राजा के हृदय को शान्ति प्रदान करने में कोई कमी न रखी, परन्तु राजा पूर्णतया आनन्दित न हुए। रह-रहकर उन्हे रानी के निठुर-व्यवहार की याद हो आती थी और उनके सन्मुख की गई प्रतिज्ञा का स्मरण आते ही, उसे पूर्ण करने के लिए अधीर हो उठते थे। चलते-चलते वे एक झरने के समीप पहुँचे, जो कल-कल करता हुआ, अबाध-गति से बह रहा था। उसके तट के सघन-वृक्ष, उसको इस प्रकार आच्छादित किये हुए थे, मानो सूर्य के ताप से उसकी रक्षा कर रहे हो। वृक्षो पर विश्राम के हेतु बैठे हुए पक्षीगण, इस प्रकार कल-रव कर रहे थे, जैसे अपने उपकारी वृक्ष और झरने की प्रशंसा कर रहे हो। प्यास से विह्वल पशुगण, झरने के जल को पीकर, इस प्रकार सन्तुष्ट हो जाते थे, जैसे किसी महान्-दानी के दान से भिक्षुक सन्तुष्ट हो जाते हैं।

राजा, यद्यपि महल की अपेक्षा वन मे प्रसन्न दीख पड़ते थे,

परन्तु क्षुधा और चलने के परिश्रम से उनका हृदय कुछ खिन्न हो गया था। झरने के किनारे पहुँचकर एक वृक्ष की छाया मे चट्टान पर बैठ गये और झरने के जल, तथा वृक्षो के फल से अपनी क्षुधा-तृषा को मिटाकर वे कहने लगे.—

झरने! तू अपनी गति और शब्द से केवल मुझे ही नहीं, बल्कि सारे संसार को क्या सिखा रहा है? मेरे आने से पहले भी तू इसी गति से, यही शब्द करता हुआ बह रहा था और मेरे आने पर भी तू इसी गति से, यही शब्द करता हुआ बह रहा है। यदि, मैं चला भी जाऊँ, तब भी तू अपनी गति या शब्द में किसी प्रकार का अन्तर न आने देगा। इससे प्रकट है, कि मेरे आने से न तो तुझे किसी प्रकार का हर्ष ही हुआ है, न भय या सङ्कोच ही और मेरे चले जाने पर भी न तो तुझे दु ख ही होगा, न आनन्द ही। तू अपनी गति को, अपने सङ्गीत को, एक ही रूप में रखता है। न तुझे हर्ष ही होता है, जो इन्हे बढावे, और न शोक ही होता है, जो इन्हे घटावे। तेरे किनारे पर लगे हुए हरे-हरे वृक्षों की सम्पत्ति पर, न तो तू अभिमान ही करता है; न तेरे निर्मल-जल को मलिन बनानेवाले पर क्रोध ही। प्रकृति ने, तेरे लिये जो नियम नियत किये हैं, तू बराबर उनका पालन करता जा रहा है। उनके पालन करने मे, जो पहाड़-पत्थर आदि तुझे बाधक होते हैं, उनसे तू किंचित भी भयभीत नहीं होता, किन्तु उन्हें हटाता हुआ अविराम-गति से बह रहा है और सब को अपना अनुकरण करने का बोध दे रहा है।

तू जैसा संगीत सुना रहा है, वैसा ही संगीत मैने रानी — भी सुना है; परन्तु जो सरसता तेरे सङ्गीत मे है, वह स

रानी के संगीत मे मुझे नही मिली। तू, स्वाभाविक-सरलता से अपना शब्द सुनाता है और रानी कृत्रिम-सरलता से। तू, अपना संगीत सदा अलापा करता है, किसी को देखकर नहीं, परन्तु रानी अपना संगीत मेरे रहने तक ही अलापती है, सदा नहीं। गायिकाओ के संगीत भी मैने सुने है, परन्तु उनमे तेरी तरह निःस्वार्थता कहाँ? वे तो भय तथा लोभ से अपना संगीत सुनाती हैं, और तू अपना संगीत निर्भय और स्वार्थ-भावना-रहित होकर सुनाता है।

जलस्रोत! तू अपना अकृत्रिम-नाद सुनाकर सब को कृत्रिम-नाद से बचने का उपदेश देता है और कहता है, कि जैसा मेरा नाद अकृत्रिम है, वैसा ही तुम्हारे हृदय मे भी अकृतिम-नाद है। लेकिन, साथ ही तू यह भी बतलाता है, कि जिस प्रकार मैं प्रकृति के नियमो का उल्लंघन न करता हुआ, हर्ष-शोक रहित, अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ, इसी प्रकार तुम भी हर्ष-शोक रहित अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहो और प्रकृति के नियमों का पालन करो, तभी उस नाद का आनन्द प्राप्त कर सकते हो।

मित्र झरने! आज तक मै, जिस नाद के सुनने मे आनन्द मानता था, वह नाद कृत्रिम है, इस बात को आज तेरी सहायता से समझ सका। तेरी सहायता प्राप्त करने का अवसर, मुझे रानी की ही कृपा से प्राप्त हुआ है। रानी का यह कहना-कि 'आप मेरा तिरस्कार करते है,' ठीक ही था। वास्तव मे, आज-तक मेरा वह और उसका मैं अपमान ही करता रहा। हम दोनो ने, कभी भी तेरे जल तथा शब्द की तरह निर्मल और अकृत्रिम नही की, यह एक दूसरे का अपमान ही है। सम्भवतः तेरे

से उपदेश प्राप्त करने के लिये ही, उसने हरिण के बच्चे के बहाने मुझे यहाँ भेजा है।

यह विचारते-विचारते, राजा को ध्यान हुआ कि मैं यहाँ किस कार्य से आया हूँ। मैं, रानी से प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, कि सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा ला दूँगा, अत. मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने का उपाय करना चाहिए, यहाँ बैठने से काम न चलेगा।

राजा, झरने के तट से उठ, वन के वृक्ष-लता आदि की छटा, भ्रमरो का गुञ्जार, हिसक पशुओ की गर्जना और पक्षियो की किलोल-क्रीड़ा को देखते—सुनते, सोने की पूँछवाले हरिण के बच्चे की खोज मे चले जा रहे थे। उन्होंने, छ दिन तक अनेक वनों में, सोने की पूँछवाले हरिण के बच्चे की निरन्तर खोज की, परन्तु उन्हें एक भी ऐसा हरिण का बच्चा न दिखाई दिया, जिसकी पूँछ सोने की हो।

सातवे दिन, राजा को अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सकने का बहुत खेद हुआ। वे, निराश हो कहने लगे, कि मैं क्षत्रिय होकर स्त्री को दिये हुए वचन का भी पालन न करके, उसे कैसे मुँह दिखाऊँगा? रानी! तेरी आकृति से, तेरे स्वभाव से, यह नही जाना जाता था, कि तू कभी ऐसी अप्राप्य-वस्तु के लिये, मुझे प्रतिज्ञा-बद्ध करके कष्ट मे डालेगी। यह निठुरता, यह विश्वासघात, तेरे हृदय मे कहाँ छिपा था, जिसे मैं न जान सका?

राजा विचार करने लगे, कि रानी ने मेरे से ऐसी अप्राप्य वस्तु माँगकर, मुझे जो कष्ट में डाला है, इसका क्या कारण है? रानी, अकारण ही मुझे कष्ट में डाले, वन-वन भटकावे, यह तो सम्भव

नहीं। विचारते-विचारते, विचार-मग्न राजा हर्ष से उछल पड़े और कहने लगे—रानी! तूने मेरे से जो सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा माँगा है, उसका कारण मैं समझ गया। वास्तव में, मैं तेरा अनादर ही करता था। मै स्वयं विषय-भोग मे लिप्त रहूँ, अपने कर्त्तव्य को न देखूँ, और तुझे अपनी विषयेच्छा की पूर्ति का साधन बनाऊँ, यह कदापि तेरा आदर नहीं कहला सकता। तूने, मुझसे सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा माँगकर, और वह भी स्वयं लाने के लिये वचन-बद्ध करके, तथा जबतक न लाऊँ, अपने महल मे न आने की प्रतिज्ञा कराकर, मेरा ही उपकार किया है। इसमे न तो तेरा कुछ स्वार्थ ही है, न मुझे कष्ट मे डालना ही तेरे को अभीष्ट है। तेरा ऐसा करने का अभिप्राय यही है, कि न तो मै इस प्रकार का हरिण का बच्चा ला ही सकूँगा, न तेरे महल को ही आ सकूँगा और इस प्रकार मैं उस विषय-विष से—जिसे मै अब तक अमृत समझता था—बच जाऊँगा। तूने, मेरा बड़ा उपकार किया है। तेरी ही कृपा से आज मुझे प्रकृति का वह अवर्णनीय-आनन्द प्राप्त हुआ है, जिसकी, मै महलो मे रहते हुए कल्पना भी नही कर सकता था। रानी! तूने मुझे अपना कर्त्तव्य-पथ दिखा दिया और उस कर्त्तव्य-पथ के कण्टको को भी तूने अपने महल मे न आने की प्रतिज्ञा कराकर साफ कर दिया। प्रिये! मै तुझे अनेको धन्यवाद देता हूँ और तेरी इस कृपा का आभारी हूँ। मैं, तेरी इच्छित-वस्तु प्राप्त नहीं कर सका, इसलिये सम्भव है, कि तू मुझ से निठुर ही रहे; लेकिन तेरी वह निठुरता, मुझे कर्त्तव्य-पथ पर स्थैर्य-प्रदान करने-की सहायता होगी, निठुरता नहीं।

इन विचारो से, राजा का चित्त प्रसन्न हो उठा और उन्होंने नगर की ओर प्रस्थान किया।
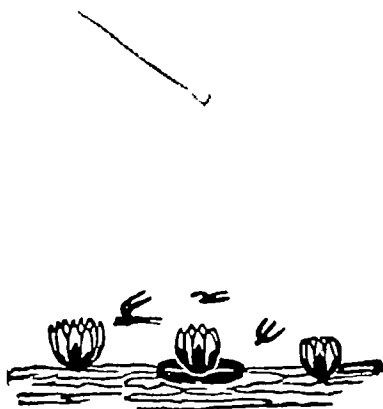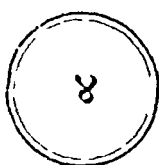
रानी की चिन्ता
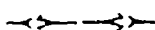
शिक्षा देनेवाले, यद्यपि ऊपर से तो कठोर-व्यवहार करते हैं; परन्तु उनके हृदय में, शिक्षा प्राप्त करनेवाले के प्रति सदैव दया, कृपा और सहानुभूति के ही भाव रहते हैं। वे, जिसे शिक्षा देते हैं, उसके लिए उनके हृदय में दुर्भाव नहीं रहता, इसीसे वे उन शिक्षाओं को हृदयस्थ कराने के लिये, हर उचित उपाय से काम लेते हैं। एक कवि ने कहा है—

उपरि करवाल धारा कारा, क्रूरा भुजङ्गम पङ्गवा: ।
अंतः साक्षा द्राक्षा, गुरवो जयन्ति केऽपिजना: ॥

अर्थात—शिक्षा देनेवाले गुरु, ऊपर से तो तलवार की धार ऐसे तीक्ष्ण और काले भुजङ्ग ऐसे भयानक दीखते हैं, परन्तु उनका हृदय दाख की तरह नरम और मधुर रहता है।

एक दूसरे कवि ने कहा है—

गुरु परजापति सारखा, घड़ घड़ काढ़े खोट।
भीतर से रक्षा करे, ऊपर लगावे चोट ॥

जिस प्रकार कुम्हार, हण्डी को बराबर करने के लिये—उसकी बुराई दूर करने के लिये—ऊपर से तो चोट लगाता है, परन्तु भीतर से हाथ द्वारा उसकी रक्षा करता जाता है, उसी प्रकार शिक्षा-गुरु ऊपर से तो कठोर रहते हैं, परन्तु जिसे शिक्षा देते हैं, हृदय से उसका भला ही चाहते हैं।

तात्पर्य यह, कि दूसरे को शिक्षा देने के लिये, गुरु वैसा ही रूप धारण कर लेता है, जैसे अमृत के कलश पर विष का ढक्कन लगा दिया हो।

यहाँ पर शिक्षा-गुरु का कार्य रानी कर रही है। वे भी, ऊपर से तो राजा से निठुर बनी हुई है, परन्तु हृदय मे राजा के लिए पहले की अपेक्षा, अधिक ही प्रेम रखती हैं, कम नही।

रानी ने, राजा से सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा माँगकर उनसे विना ऐसा बच्चा लाये महल मे न आने की प्रतिज्ञा तो कराली, परन्तु उनके हृदय मे भी चैन नही है। उन्हे, रह-रहकर विचार हो आता है, कि मैंने पति से जो अप्राप्य-वस्तु मँगाई है, उसके लिए पति को न मालूम कहाँ-कहाँ भटकना पड़े और न जाने कैसे-कैसे कष्ट उठाने पड़े। अस्तु।

सन्ध्या के समय, जब राजा नित्य की तरह महल मे नही आये, तब रानी विचारने लगीं, कि आज नाथ क्यो नही आये? इसी समय, उन्हे ध्यान हुआ, कि पति से मैने ही तो उस समय तक महल मे न आने की प्रतिज्ञा कराई है, जबतक वे सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा न ले आवे। लेकिन, स्वामी अपने महल मे भी हैं या नहीं, इस बात का पता लगाने के ने दासी को भेजा। दासी ने, लौटकर उत्तर दिया

नहीं हैं। इस उत्तर को सुनते ही, रानी के मन पर चिन्ता का साम्राज्य छा गया। वे कहने लगीं, कि मेरी ही वस्तु की खोज में नाथ वन को गये होंगे, लेकिन मैंने ऐसी वस्तु माँगी है, जो मिल ही नहीं सकती। हृदयेश्वर! आज आपको वन में न मालूम किन-किन कष्टों का सामना करना पड़ रहा होगा! सूर्य के ताप और मार्ग की थकावट से आपकी क्या दशा हो रही होगी! आज आपको भोजन भी कहाँ प्राप्त हुआ होगा! इस अभागिनी ने ही आपको इन कष्टों में डाला है; परन्तु स्वामी! इसमें मेरा किञ्चित् भी स्वार्थ नहीं है। मुझे, आपका, प्रजा का और मेरा कल्याण, ऐसा करने में ही देख पड़ा, इसी से मैंने आपको इस प्रकार वन जाने के लिये विवश किया है। प्राणाधार! मैं आपको अपना हृदय चीरकर दिखा सकती हूँ, कि मेरे हृदय में आपके प्रति वही प्रेम है, लेकिन, मेरे इस प्रेम से इस समय आपको कष्ट प्राप्त हो रहा होगा, अतः मैं भी प्रण करती हूँ, कि जबतक आपके दर्शन न करलूँ, अन्न-जल कदापि ग्रहण न करूँगी, न शय्या पर शयन ही करूँगी। आप तो वन में भूख-प्यास से कष्ट सहें, वन की कठोर भूमि पर शयन करें और मैं भोजन-पान तथा सुखपूर्वक-शयन द्वारा आनन्द करूँ, यह सर्वथा अनुचित है। मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूँ, अतः आप दुःख सहें और मैं सुख करूँ, यह बात मेरे कर्तव्य की सीमा से परे है। मैं भी आपके कष्टों का जहाँ तक अनुमान कर पाऊँगी, अनुकरण करूँगी। यदि मैंने, आपके हित को दृष्टि में रखकर ऐसी अप्राप्य-वस्तु स्वच्छ-हृदय से माँगी है, तो मेरी तपस्या अवश्य ही आपके और ... कष्टों को दूर करके कल्याणदायिणी होगी।

राजा की चिन्ता मे विकल, रानी को इसी प्रकार ६ दिन व्यतीत हो गये। इन छ दिनो में, उन्होने न तो भोजन ही किया, न जल ही पिया। इतने दिनो में, रानी के हृदय मे जो-जो भाव उत्पन्न हुए, उनका व्यक्त करना कठिन है।

सातवे दिन, चिन्ता ग्रस्त रानी; महल के समीप वाले उपवन मे जाकर एक कुण्ड पर बैठ गईं और उस कुण्ड के कमल को सम्बोधन कर कहने लगी—कमल! इस समय तू कैसा प्रसन्न-चित्त विकसित होकर अपनी छटा फैला रहा है! यदि इस समय कोई तुझे उखाड़ डाले, तेरी प्रसन्नता और छटा का घातक हो जाय, तो कितना बुरा हो? तुझे जिस प्रकृति ने बनाया है, उसे तेरे बनाने मे तो समय लगा है, परन्तु तेरे नाश करनेवाले को कुछ भी समय नहीं लग सकता। लेकिन जो तुझे बनाने मे समर्थ नही है उसे तेरे को बिगाडने का क्या अधिकार है? ऐसा करने वाला निन्दनीय ही नहीं, घोर पातकी भी है। जिसप्रकार तुझे प्रकृति ने बनाया है, उसीप्रकार 'मेरे पति-कमल को भी उनके माता-पिता ने बनाया है। उनके बनाने में, उनके माता-पिता को न मालूम कितना समय लगा होगा और उनके लालन-पालन मे न मालूम कितने कष्ट उन्होने सहे होगे; परन्तु मुझ पापिनी ने इस का कुछ भी विचार न करके, उन्हे एक-क्षण मे ही उखाड़ दिया। मैं, घोर पापिनी हूँ, जो उस वस्तु को उखाड़ने का साहस किया, जिसको मैंने नही बनाया था। हाय! इन सात-दिनो मे, पति पर न मालूम क्या-क्या कष्ट पड़े होगे और उन्हे कितने सङ्कटों का सामना करना पड़ रहा होगा।

पति के कष्टो की कल्पना करती हुई रानी, गंभीर चिन्ता-सागर

मे ऐसी निमग्न हो गईं, कि उन्हे अपने आपकी भी सुधि न रही। लेकिन, सच्चे-हृदयवालो को किसी चिन्ता मे, विशेष-समय तक नही रहना पड़ता, इसके अनुसार, रानी को भी इस चिन्ता-समुद्र मे विशेष-समय तक गोते नही खाने पड़े।

उधर राजा, वन से लौटकर विचारने लगे, कि पहले मै उस रानी को तो देखूँ, जिसने मुझे सात दिन तक वन मे भटकाया है। मेरे वन जाने और कष्ट सहने का उसे दु:ख है या आनन्द, इस बात का तो पता लगाऊँ। क्योकि स्त्री की परीक्षा कष्ट के ही समय होती है, सुख के समय नही। यद्यपि रानी ने, मुझे सोने की पूँछवाला हरिण का बच्चा लाये बिना अपने महल मे आने से रोक दिया है, लेकिन आज मै उन विचारो को लेकर रानी के महल मे नही जा रहा हूँ, जिन विचारो से अब तक रानी के महल में जाया करता था। आज तो केवल यह देखने जा रहा हूँ, कि वन मे मेरे हृदय में जो विचार आये थे, वे ठीक थे या नही।

राजा, यह विचारकर, सबसे पहले रानी के महल मे गये, परन्तु रानी वहाँ न दीख पड़ी। दासियो से पूछने पर, राजा को मालूम हुआ कि रानी इस समय समीप के उपवन मे है। महाराजा हरिश्चन्द्र, उपवन मे आये। वहाँ, कुण्ड पर, कृश-शरीर रानी को ध्यानस्थ योगियो की तरह चिन्तामग्न देख, राजा विचारने लगे, कि मैंने वन मे रहकर जितने कष्ट उठाये हैं, उनसे अधिक कष्टो का अनुभव, रानी महल मे ही कर रही है। मैं, अपने शरीर को, वन में रहने पर भी उतना दुर्बल नहीं देखता, जितना दुर्बल रानी का शरीर है। सम्भवत. रानी मेरी ही चिन्ता में

डूबी हुई है; लेकिन मैं अब इसे अधिक देर तक चिन्ता मे न रहने देकर, शीघ्र ही चिन्ता-मुक्त करूँगा।

इस प्रकार विचार करके, राजा ने कहा—प्रिये तारा! सकुशल तो हो?

राजा के इन शब्दो के श्रवण मे पड़ते ही, रानी के हृदय मे एक प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। वे, पति के शब्द को सुन विचारने लगी, कि ये शब्द तो पति के ही प्रतीत होते है, तो क्या वे आगये? अवश्य आगये होगे, अन्यथा मुझे 'प्रिये' कह कर कौन सम्बोधन करता?

राजा को आया जान, रानी के हृदय मे अपार आनन्द हुआ, लेकिन, उन्होने अपने इस आनन्द को प्रकट न होने दिया। उन्होंने विचारा, कि हर्षावेश मे मैने यदि स्वामी के सन्मुख इस आनन्द को, प्रेम-प्रदर्शन द्वारा प्रकट कर दिया, तो जिस अभिप्राय से मैंने नाथ को इतने दिन वन मे भटकाया है, उसमे सफलता प्राप्त न होगी। स्वामी, पुन मेरे मोह मे लिप्त हो जायँगे, जिससे उनपर का वह कलङ्क—जिसे मैं मिटाना चाहती हूँ—न मिटा सकूँगी।

रानी ने, यह सोच कर, गम्भीरता भरी कटाक्ष-दृष्टि से राजा की ओर देख कर पूछा—प्रभो! आप पधार गये?

राजा—हाँ प्रिये, मै आगया।

रानी—हृदयवल्लभ! मेरी माँगी हुई वस्तु कहाँ है?

राजा—प्रिये! तुम विचारो तो सही, कि जो वस्तु तुमने माँगी है, क्या उसका प्राप्त होना सम्भव है? तुम एक राज-वंश की ललना हो, एक राजवंश की कुल-वधू हो, एक राजा की सह-

धर्मिणी हो, फिर तुममे इतनी अज्ञानता रहे, यह कितने आश्चर्य की बात है ? ऐसा मृग-शिशु जिसकी पूँछ सोने की हो, प्रत्यक्ष देखना तो दूर रहा, कभी स्वप्न मे भी देखा है, या किसी से सुना अथवा पुस्तको मे भी पढा है ? यदि नहीं, तो फिर ऐसा मृग-शिशु होता है, इसका क्या प्रमाण ? मैने सात दिन तक वन मे निरन्तर ढूँढा, परन्तु मुझे एक भी ऐसा मृग या मृगशिशु न दिखाई दिया, जिसकी पूँछ सोने की हो। यदि ऐसे मृग या मृगशिशु—जिनकी पूँछ सोने की हो—संसार मे होते, तो कदाचित मै उन्हें पकड़ न पाता, परन्तु क्या वे मेरी दृष्टि से भी छिपे रहते ? मैं नहीं कह सकता, कि तुमने सर्वथा अप्राप्य-वस्तु माँगकर, मेरी इतनी कठिन परीक्षा क्यो ली है, कि जिसमे मै कदापि सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अब, मेरे कथन पर विश्वास करो और निठुरता को छोड़ शृङ्गार धारणकर सदा की भाँति प्रेम-व्यवहार करो।

रानी—अच्छी बात है नाथ ! आप जो कुछ कह रहे हैं, वह आपके लिये अशोभनीय है, यह तो मै नहीं कह सकती, परन्तु मुझ अभागिनी के लिये आपके हृदय मे स्थान कहाँ है, जो मेरी माँगी हुई वस्तु आप मुझे ला दे। आपके राज्य मे, सब के लिए तो सब कुछ है, परन्तु मेरे लिए तो केवल तिरस्कार और कपट भरा शुष्क प्रेम ही है। यदि मैने आपसे अप्राप्य-वस्तु माँगी थी, तो आपको उसी समय कह देना चाहिए था, जिसमे उसके लिए न तो मैं ही प्रतिज्ञा करती, न आप ही से तिज्ञा कराती। आप भी क्षत्रिय है और मै भी क्षत्राणी हूँ। ी प्रतिज्ञा पर—फिर वह चाहे सम्भव हो या असम्भव—

दृढ रहना क्षत्रियों का कर्त्तव्य है। इसके अनुसार, मैं आपकी और आप मेरी भेट से भी वंचित रहे और इच्छा भी पूर्ण न हुई। मैं, आपसे पहले ही प्रार्थना कर चुकी थी, कि आप मुझ से प्रेम नहीं करते हैं, वल्कि मेरा अनादर करते हैं। इस बात की पुष्टि, इससे और भी हो गई। इस अनादरपूर्ण-जीवन से तो मरना ही श्रेष्ठ है। (दासी को सम्बोधन करके) मल्लिके ! पति से किसी प्रकार की आशा करना, दुराशामात्र है। अतः चलो, महल को चलें और अपना शेष-जीवन, भगवद्-भजन मे ही व्यतीत करे।

यह कहकर, मल्लिका को साथ ले, रानी महल को चल दी। राजा, उनसे ठहरने के लिये कहते ही रहे, परन्तु रानी ने न तो राजा के इस कथन पर ध्यान ही दिया, और न ठहरीं ही।

रानी के इस प्रकार चले जाने का तात्पर्य, राजा समझ गये। वे, विचारने लगे, कि रानी यह सब मेरे लाभ के लिये ही कर रही हैं, मेरे हित को ही दृष्टि में रखकर, उन्होंने मुझसे अपने महल मे न आने की प्रतिज्ञा कराई है, अतः उनका यह व्यवहार सर्वथा क्षम्य है। कदाचित, ऐसा समझना मेरा भ्रम भी हो, तव भी जव स्त्री होकर रानी मेरी अपेक्षा नहीं रखती, तव मैं पुरुष होकर उनकी अपेक्षा क्यो रखूँ ? अबतक, जो विषयानन्द लेते थे, वह दोनों समान रूप से ही लेते थे, फिर रानी तो उसके अभाव मे दुःख नहीं मानती हैं, तो मै दुःख क्यों मानूँ ? यदि मुझे रानी का वियोग असह्य होगा, तो क्या रानी को मेरा वियोग असह्य न होगा ? और यदि उनको मेरा तथा विषयानन्द का वियोग सह्य हो जायगा, तो मैं पुरुष होकर

चुकी थीं, परन्तु महल में आने पर, उन्हें एक दूसरी चिन्ता ने घेर लिया। वे विचारने लगीं, कि स्वामी वन के कष्टों को सहकर आज सातवें दिन घर को पधारे, परन्तु मुझ पापिनी ने उनकी कुशल भी न पूछी, उन पर जो कष्ट बीते, उनको भी न सुना, बल्कि अपने कठोर वचनों से, उनके हृदय को विशेष दुःखित किया और उनके रोकने पर भी मैं उनके समीप न ठहरी। यद्यपि, यह सब कुछ मैंने किया तो उनके हित के लिये ही, परन्तु नाथ मेरे अभिप्राय को न समझ, कहीं यह न कहने लगें, कि रानी दुष्ट हृदयवाली है, उसका स्वभाव क्रूर है और वह पतिवंचक है। नाथ! जिस प्रकार वर्षा के पूर्व सूर्य अपने प्रखर-तेज से सबको तपा देता है, उसी प्रकार मैंने भी आपको कष्ट दिया है। लेकिन, सूर्य की ऊष्णता के पश्चात्, वर्षा द्वारा जैसी शान्ति प्राप्त होती है, वैसी शान्ति मेरे द्वारा दिये गये कष्टों को सहने के पश्चात्, आपको मिलेगी या नहीं, यह बात तो भविष्य के गर्भ में छिपी है। प्रभो! आज आप वन के अनेकों कष्ट सहकर पधारे हैं। इस समय, सेवा द्वारा आपकी थकावट को मिटाना और आपको सुख पहुँचाना, मेरा परम कर्तव्य है, परन्तु यदि मैं आपकी सेवा में उपस्थित होती हूँ, तो मैंने अब तक जो कुछ किया है—जिस अभिप्राय से मैंने स्वयं आपको कष्ट की ओर अग्रसर किया है—वह सब निष्फल हो जायगा।

रानी, इसी चिन्ता को दूर करने के लिए, भगवान् का भजन करने बैठीं। वे उच्चारण तो करना चाहती हैं परमात्मा का नाम, परन्तु उनके मुख से परमात्मा के बदले, पति-पति ही निकलता है। इस अन्तर के लिये रानी विचारती हैं, कि मेरे लिये परमात्मा

और पति दोनो ही समान हैं। मुझे, पति किसी विषयेच्छा से याद आ नहीं रहे हैं—विषय-वासना को तो मैं पहले ही त्याग चुकी हूँ—अत मेरे लिये परमात्मा और पति, दोनों समान वन्द्य है।

रानी, यद्यपि चिन्ता से मुक्त होने के लिए, चित्त को अनेक प्रकार से समझाती हैं, परन्तु वह, राजा की थकावट आदि का स्मरण करके, रह-रहकर उसी ओर चला जाता है। रानी विचारती है, कि मुझे इस समय क्या करना चाहिए? यदि मैं राजा की सेवा करने जाती हूँ, तो इस बात का भय है, कि राजा का मुझ पर फिर मोह हो जाय, तथा प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाय, और यदि नहीं जाती हूँ, तो हृदय को धैर्य नही होता।

रानी ने, दासी को बुलाकर कहा—मल्लिके! स्वामी वनके अनेक कष्टो को सहकर आज आये है। क्षुधा, परिश्रम आदि से वे पीड़ित होंगे। अत तू भोजन-सामग्री और तेल लेकर उनकी सेवा कर आ। यद्यपि यह कार्य है तो मेरा, परन्तु मुझ अभागिनी मे राजा रूपी मणि दूषित हो गया है, और इस समय मेरे जाने मे सम्भव है कि और भी दूषित हो जाय; अत मेरे इस कार्य को तू ही कर आ। जिसमे पति की सेवा भी हो जाय और वे निर्दोष भी बने रहे।

रानी की बात सुनकर, मल्लिका कहने लगी—स्वामिनी, जान पड़ता है कि आज आपको पति-प्रेम मे किसी बात का ध्यान नहीं है। यदि ऐसा न होता, तो आप मुझे इस समय राजा के समीप जाने को कदापि न कहतीं। रात का समय है, राजा अपने महल मे अकेले है, मै जाऊं और वे कामवश हो कोई अनुचित

काय कर डालें तब ? जब वे आपके सहवास से दूषित हो गए हैं, तो मेरे जाने पर उनके और कितने दूषित हो जाने की आशङ्का है, आप इसे विचारो। राजा, आपके स्वामी हैं और आप उनकी धर्म-पत्नी हैं। एकान्त मे उनके समीप जाने का अधिकार, आपको है। मुझे यह अधिकार नहीं है, कि मैं अकेली उनके समीप जाऊँ। हाँ, यदि आप जाती हो, तो आज्ञा देने पर मैं भी साथ चल सकती हूँ, या आपकी उपस्थिति मे कार्यवश उनके समीप जासकती हूँ परन्तु आपकी अनुपस्थिति में रात के समय उनके समीप जाने से, मैं क्षमा चाहती हूँ। अस्तु।

यदि देखा जाय, तो स्त्री-पुरुष सम्बन्धी पाप का विशेप कारण, स्त्री-पुरुप का एकान्त-निवास है। इसके लिए दृष्टान्त देना अप्रासङ्गिक न होगा।

राजा भोज ने, अपनी सभा के पण्डितों से पूछा कि.—

"मनोमहीला विषयादि तता कामस्य सत्यं जनकं कवेकः।"

अर्थात्—हे कवि, काम के उत्पन्न करनेवाले, मन, स्त्री, खान-पान आदि तो है ही, परन्तु इसका सच्चा उत्पादक कौन है ?

राजा के इस प्रश्न का उत्तर, कोई भी पण्डित न दे सका। तब, राजा ने कालिदास से कहा, कि—क्या मेरे इस प्रश्न का उत्तर, तुम से भी न मिलेगा ? कालिदास ने कहा—मैं, कल आपको इसका उत्तर दूँगा।

कालिदास घर आये। घर आकर उन्होने ग्रन्थो मे इस प्रश्न का उत्तर ढूंढना प्रारम्भ किया, परन्तु इसका उत्तर किसी भी ग्रन्थ मे न मिला।

कालिदास की स्त्री का, देहान्त हो चुका था। उनके प्रभावती नामकी एक कन्या थी, जो उसी नगर में विवाही थी। प्रभावती, नित्य अपने पिता के घर आती और भोजन बना तथा उन्हें जिमाकर चली जाया करती थी। नित्य की तरह, उस दिन भी उसने भोजन बनाया, और कालिदास से कहा कि—पिताजी, भोजन कर लीजिये। कालिदास उस समय ग्रन्थो मे, राजा के प्रश्न का उत्तर खोज रहे थे, अत उन्होने प्रभावती की बात सुनी-अनसुनी करदी। प्रभावती समझी, कि पिता इस समय किसी आवश्यक-कार्य मे लगे है, सम्भव है कि वह कार्य कुछ देर मे समाप्त हो जाय। प्रभावती, कुछ देर ठहरकर फिर कालिदास के पास गई और उनसे भोजन कर लेने के लिए कहा, परन्तु कालिदास ने उत्तर दिया, कि मैं कुछ देर ठहरकर भोजन करूँगा।

कालिदास के इस उत्तर और उनकी मुख-मुद्रा से प्रभावती समझ गई, कि पिताजी इस समय किसी चिन्ता मे हैं। उसने पूछा—पिताजी, आप किस चिन्ता मे हैं। कालिदास ने झुँझलाकर उत्तर दिया कि—तू समझती-बूझती तो कुछ है नहीं, तुझे क्या मालूम कि मै इस समय कौन-सा कार्य कर रहा हूँ, इसीसे तू इस प्रकार की अनावश्यक-बाते करके, मेरा समय नष्ट कर रही है।

प्रभावती—पिताजी, आप विचारिये तो सही, कि मुझे दो गृह के कार्य करने पड़ते है। यदि मै, सब कार्य यथा-समय न करूं, तो मेरा काम कैसे चले? मै, कभी से भोजन बनाकर प्रार्थना कर रही हूँ, कि भोजन कर लीजिए, परन्तु आप, तो भोजन करने ही चलते हैं, न अपनी चिन्ता ही प्रकट करते

हैं। कम-से-कम, आप अपनी चिन्ता तो बतला दीजिये, जिसमें मैं भी उसपर विचार कर सकूँ और यदि सम्भव हो, तो आपकी कुछ सहायता भी कर सकूँ।

कालिदास ने, प्रभावती को भोज का प्रश्न सुनाकर कहा, कि मैंने इस प्रश्न का उत्तर, कल देने को राजा से प्रतिज्ञा की है; परन्तु, मैं इस समय तक इसका उत्तर न विचार सका, न किसी ग्रन्थ मे ही इसका कुछ उत्तर मिलता है। प्रभावती ने कहा— पिताजी, राजा के इस प्रश्न का उत्तर, कल की सभा के समय मे पहले मैं आपको दे दूँगी। आप चलकर भोजन करिए। प्रभावती के विश्वास दिलाने पर, कालिदास ने भोजन किया। पिता को भोजन कराकर, प्रभावती ने अपनी ससुराल मे सन्देश भेज दिया, कि मैं आज अपने पीहर मे ही रहूँगी।

संध्या के समय, प्रभावती ने कालिदास के लिए जो भोजन बनाया, उसमे उसने कामोत्तेजक-पदार्थों का, संमिश्रण कर दिया। कालिदास को, उन उत्तेजक-पदार्थों का भोजन कराके, प्रभावती ने भी भोजन किया और दोनो अपने-अपने स्थान पर सो रहे। प्रभावती ने सोने के पूर्व, ऐसे स्थान को देख लिया था, जिसमे चले जाने पर, वह पिता के हाथ भी न आवे और पिता को, राजा के प्रश्न का उत्तर भी मिल जाय।

कामान्ध-मनुष्य की बुद्धि, नष्ट हो जाती है। उसे, उस समय कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। चाहे जितना बुद्धिमान मनुष्य हो, कामान्ध होने पर उसे केवल स्त्री की ही धुन रहती है। फिर चाहे वह स्त्री, लड़की ही क्यो न हो, या पशुजाति की ही क्यो न हो।

उन कामोत्तेजक-पदार्थों ने, रात के समय, कालिदास के मन में विकार उत्पन्न किया। कालिदास, काम-पीड़ा से मुक्ति पाने की अभिलाषा से, प्रभावती के पास गए और उससे भोग-भोगने के लिए उपाय करने लगे। प्रभावती ने, कालिदास को अपने ऊपर हस्तक्षेप करते देख, उनसे कहा—पिताजी, सावधान रहिए। अपनी कन्या के ऊपर यह क्या अत्याचार करने को आप तत्पर हुए है? कलिदास तो उस समय कामान्ध थे। उन्हे ऐसे समय मे यह चिन्ता कब रहने लगी थी, कि यह मेरी कन्या ही है, या दूसरी कोई। उन्होंने, प्रभावती की बात सुनकर उससे कहा कि—बस! चुपचाप रह, अन्यथा जीवन की कुशल नहीं है।

प्रभावती समझ गई, कि मैंने ही इनको कामोत्तेजक-पदार्थ खिलाये है, अत ये अपने वश मे नही है। इस समय, इनका ज्ञान लुप्त होगया है। उसने कालिदास से कहा—पिताजी, यदि आपकी इच्छा ऐसी ही है, तो कम-से-कम दीपक तो बुझा दीजिये। दीपक जल रहा है, क्या उसके देखते हुए, आप अपनी कन्या के साथ और मै अपने पिता के साथ भोग भोगूँगी?

प्रभावती की बात सुन, कालिदास दीपक बुझाने गए। इतने मे ही, प्रभावती उस पहले से सोचे हुए स्थान मे चली गई और भीतर से कपाट वन्द कर लिए। कालिदास, लौटकर प्रभावती को भय दिखाने लगे, प्रलोभन देने लगे, लेकिन प्रभावती ने यही उत्तर दिया कि आप सवेरे चाहे मुझे मार ही डालें, परन्तु इस समय में कदापि किवाड नही खोल सकती। कालिदास ने, ...वती को प्राप्त करने के लिए कई उपाय किये, परन्तु वे उसे ... करने मे असफल रहे।

कालिदास को, सारी रात इसी प्रकार उपद्रव करते बीती। जब सवेरा होने आया और उत्तेजक-पदार्थों का प्रभाव कम हुआ, तब कालिदास को विचार आया, कि मैं यह क्या कर रहा हूँ? हाय-हाय! मैं अपनी कन्या से ही व्यभिचार करने के लिए तुला हुआ हूँ! यह कन्या क्या कहेगी और मै इसको किस प्रकार मुँह दिखाऊँगा! मेरा कल्याण तो, अब मरने मे ही है।

इस प्रकार विचारकर कालिदास ने, अपने प्राण-त्याग का संकल्प किया। उन्होने प्राण-त्यागने के लिए, फाँसी लगाने को एक रस्सी बाँधी और उसमे अपना गला फँसाने को तैयार हुए। उधर, पिता के उत्पात को शान्त और उत्तेजक-पदार्थों के प्रभाव का समय व्यतीत जान प्रभावती ने विचार किया, कि अब तो पिताजी की बुद्धि ठिकाने आगई होगी। वह, किवाड़ खोलकर बाहर निकली, तो देखती है कि पिताजी मरने के लिये तैयार खड़े हैं। उसने कहा—पिताजी, आप यह क्या कर रहे हैं।

कालिदास—बस प्रभावती, मुझे क्षमा कर। मैं, अपने इस कुकृत्य का परलोक मे तो दण्ड पाऊँगा ही, परन्तु इस लोक में भी, मैं मुँह दिखाने के सर्वथा अयोग्य हूँ। अब मैं अपना कल्याण मरने मे ही देखता हूँ; अत तू इसमे बाधा न पहुँचा। तुझपर बुरे विचार लाकर, मै स्वय भी भ्रष्ट हुआ और तुझे भी भ्रष्ट करना चाहता था, परन्तु तू अपनी बुद्धिमानी से बच गई। इस लोक मे मै इस पाप का प्रायश्चित्त, मरकर ही करूँगा, इसलिए तू कुछ न बोल।

प्रभावती—पिताजी, जरा ठहरिये और मेरी बात को सुन

लीजिये। आपके मन मे, जो विकार उत्पन्न हुआ, और आपने जो कुछ उत्पातादि किये, इसमें आपका कोई दोष नहीं है, यह तो राजा ने जो प्रश्न किया है, उसका उत्तर-मात्र है। मैंने, प्रश्न का उत्तर देने के लिए, आपको ऐसे उत्तेजक-पदार्थ खिलाये थे, जिन्होंने आपको ऐसा करने के लिए, विवश कर दिया। अब तो आप अच्छी तरह समझ गये होंगे, कि काम का सखा-आप एकान्त है। साधारण रीति से, या ऐसे उत्तेजक-पदार्थों के प्रभाव से कभी मन खराब भी हो जाय, तथा स्त्री भी पास ही हो तब भी यदि एकान्त न हो, अर्थात् वहाँ दूसरे मनुष्य मौजूद हो, तो वे बुरे विचार कार्यरूप मे कदापि परिणत न हो सकेंगे। यह उत्तर यदि मै बिना अनुभव कराये देती, तो आपको विश्वास न होता। इसलिए मैंने प्रश्न का उत्तर देने के पहले ही, उत्तर का अनुभव करा दिया।

कालिदास—यद्यपि तूने प्रश्न का उत्तर देने के लिए, जान-बूझकर मुझे ऐसे पदार्थ खिलाये, जिनसे मै अपने आपे में न रह सका, तथापि तेरे साथ कुकर्म करने के, मेरे हृदय मे विचार तो हुए। इन विचारो के आने का, मुझे क्या प्रायश्चित्त करना चाहिये?

प्रभावती—जब आप विवश थे, तब इसका प्रायश्चित्त क्या होगा? फिर भी, यदि आप प्रायश्चित्त करना ही चाहते हैं, तो आप भी प्रायश्चित करिये और आपही के साथ मै भी प्रायश्चित्त करती हूँ, कि भविष्य मे, चाहे सगा बाप ही क्यो न हो, या सगी लड़की ही क्यो न हो, उसके साथ एकान्त मे न रहे।

प्रभावती द्वारा प्राप्त उत्तर को, कालिदास ने भोज को सुनाया, वह प्रसन्न हुआ।

सारांश यह, कि काम-विकार को कार्यरूप मे परिणत करने का अवसर तभी प्राप्त होता है, जब स्त्री-पुरुष एकान्त स्थान में हों। इससे बचने के लिए ही स्त्री-पुरुष का एकान्त स्थान मे रहना त्याज्य माना गया है।

मल्लिका का उत्तर सुनकर रानी कहने लगीं, कि तेरा कहना ठीक है। वास्तव में मैंने, पति-प्रेम के आवेश मे कार्य के औचित्यानौचित्य पर ध्यान नही दिया। लेकिन, अब मै भी नही जाती। ईश्वर और सत्य पर विश्वास करके उन्हें सोने ही दो। जो कुछ होगा, वह अच्छा ही होगा।
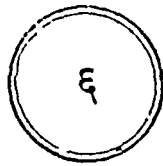
कर्त्तव्य-पथ
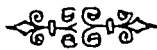
धर्मात्मा-मनुष्य, सूर्योदय से पहले ही उठकर, परमात्मा का भजन करने मे लग जाते हैं। वे, आलसियो की तरह सूर्योदय के पश्चात् तक, नहीं पड़े रहते। सूर्योदय के पश्चात् उठने से, वैद्यक-ग्रन्थो मे भी कई हानिये बतलाई गई हैं। रात मे विशेष समय तक जागना और फिर सूर्योदय के पश्चात् तक सोते रहना, प्राकृतिक-नियम के भी विरुद्ध है। प्रकृति के आवश्यक-नियमो की अवहेलना करनेवाला मनुष्य, अपने जीवन, स्वास्थ्य, उत्साह और लाभ की भी, अवहेलना करता है। ऐसा करनेवाला मनुष्य, प्राकृतिक नियमानुसार दण्डित होता है। सारांश यह, कि कर्त्तव्य को समझनेवाला मनुष्य, सूर्योदय के पहले ही उठकर, परमात्मा के भजन मे लग जाता है।

महाराजा हरिश्चन्द्र, आज सूर्योदय से पहले उठे। आज सूर्योदय देखने का अवसर, उन्हे बहुत दिनो के पश्चात प्राप्त हुआ है। उनके हृदय मे आज वह आनन्द है, ऐसा उत्साह है, शरीर मे ऐसी स्फूर्ति है, मन ऐसा प्रसन्न है, कि जिसका अनुभव उन्हें समय से नहीं हुआ था। वे, रानी को धन्यवाद देते हुए

कहने लगे—रानी ! मुझे वन के प्राकृतिक दृश्य देखने, निद्रा लेने और आज प्रातःकाल उठने में, जो आनन्द प्राप्त हुआ है, वह सब तेरी ही कृपा का फल है। तेरा, सोने की पूँछवाला मृगशिशु माँगने का अभिप्राय, मुझे इन आनन्दों से भेंट कराना था। वास्तव में, मैं अपने जीवन को विषय-वासना में व्यतीत करके, कल्पवृक्ष को काट, बबूल बो रहा था, हाथी देकर गधा ले रहा था और अमृत को छोड़कर, विष पी रहा था। लेकिन तूने, मेरी भूल दर्शा दी। मैं, तेरा उपकार मानता हूँ और अपने ऊपर, तेरा यह बात बड़ा ऋण समझता हूँ। सोने की पूँछवाला मृगशिशु, दैव-योग से कभी प्राप्त हो भी जाता, तब भी विषय-वासना से मुझे यह आनन्द न आता, जो विषय-पाश से मुक्त होने पर प्राप्त हुआ है।

नित्य के आवश्यक-कार्यों से निवृत्त हो, महाराजा हरिश्चन्द्र, सभा में जाकर राज्यासन पर बैठे। वह राज-सिंहासन, जो बहुत दिनों से खाली ही पड़ा रहता था, आज राजा के बैठने से सुशोभित हुआ। राजा के सिंहासनासीन होने से, कुछ लोगों को तो आनन्द हुआ और कुछ को दुःख। वे राज-कर्मचारीगण, जो राजा की अनुपस्थिति में प्रजा पर मनमाने अत्याचार करते और अपना स्वार्थ-साधन करते थे, तथा वे अनाचारी कार्यकर्त्तागण, जो राजा की अनुपस्थिति में निरंकुश थे, उन्हें तो राजा के राज्यासन पर आने से दुःख हुआ। राजा के राज्यासन पर आने के पहले, ये लोग समझते थे, कि राजा तो रानी के साथ विषय-भोग में पड़े हैं, अतः हम ही राजा हैं। आज, राजा के आजाने से, उनके इन विचारों की लता पर, तुषार-दृष्टि हो गई। इसलिए,

उन्हे, राजा के आने से दु ख हुआ। लेकिन, जो लोग राजा के शुभचिन्तक और न्यायप्रिय थे, जो अन्य कर्मचारियो के अत्याचारो को देख-देखकर दु.खी थे और जिन्हे राज्यासन खाली रहना बुरा लगता था, वे लोग,राजा के सिहासन पर विराजने से आनन्दित हुए और कहने लगे,कि आज सूर्यवंश का सूर्य,सिंहासनरूपी उदयाचल पर उदय हुआ है। इस तेजोराशि के उदय होने पर, अत्याचारी-उल्लूक निश्चित ही छिप रहेगे।

वे राजा, जो विशेष-समय से महल के बाहर भी न निकलते थे, राज्य-कार्य की ओर जो कभी दृष्टि भी न डालते थे, आज अचानक और ठीक समय से भी पहले राज-कार्य देखने के लिए उद्यत हुए, इसके लिये लोग आश्चर्य करने लगे। राजा के स्वभाव मे, अचानक इस प्रकार परिवर्तन के कारण का लोगो ने पता लगाया, तो उन्हे मालूम हुआ, कि रानी की कृपा से,राजा राजकार्य में पुन प्रवृत्त हुए हैं। रानी ने, सोने की पूंछवाला मृगशिशु न ला सकने के कारण, राजा को अपने महल मे आने से रोक दिया। इसी पर से राजा को अपने कर्त्तव्य का ध्यान हुआ। यह जानकर लोगो ने, रानी की प्रशंसा की और उन्हें अनेक धन्यवाद दिये।

रानी के महल मे न जाने के लिये वचन-बद्ध होने के कारण, राजा, एकाग्र-चित्त से राज-कार्य देखने मे लगे रहते हैं। उनका सारा समय, राज-कार्य देखने, न्याय करने, प्रजा के दु:खो को दूरकर उसे सुख पहुंचाने आदि कार्यों में ही व्यतीत होता है। प्रजा के लिए, सदाचार आदि नीति सम्बन्धी और कला-कौशल व्यवसाय-सम्बन्धी शिक्षा का, उन्होने ऐसा प्रबन्ध किया, कि

जिससे उनके राज्य में अपराधों का नाम भी न रहा। वे, अपराध के कारणों का पता लगाकर उनका नाश ही कर देते, जिससे फिर अपराध होवे ही नहीं। न्याय भी वे इतना उत्तम करते, कि किसी भी पक्ष को दुःख नहीं होता। जिस प्रकार हंस दूध और पानी को पृथक् कर देता है, इसी प्रकार मामलों-मुकदमों में राजा सत्य और झूठ को अलग-अलग कर देते। कर्मचारियों द्वारा किसी पर अत्याचार न हो, इसके लिए बहुत ही सावधानी रखते और प्रजा की चोर-डाकू आदि उपद्रवियों से रक्षा करना, अपना परम कर्त्तव्य समझते। उनके इस प्रकार राज्य करने से, थोड़े ही दिनों में प्रजा सुख-समृद्धि-सम्पन्न हो गई। कोई दुःखी न रहा। हरिश्चन्द्र का यह नीति-धर्ममय-राज्य, सत्य का राज्य कहलाने लगा और उनकी कीर्ति दिग्-दिगन्त में व्याप्त हो गई। इस प्रकार, रानी ने अपने त्याग और उद्योग से, अपनी मनोकामना भी पूर्ण करली, राजा को अपने कर्त्तव्य पर भी आरूढ़ कर दिया, तथा अपना स्वयं अपने पति का कलंक भी धो डाला।
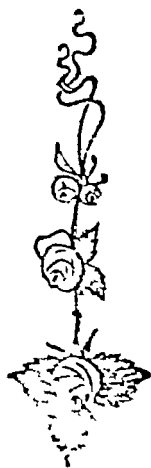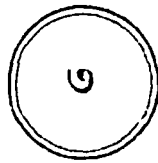
इन्द्रसभा

त्रैलोक्य मे, सत्य के बराबर और कोई वस्तु नही है। स से ही संसार की स्थिति है। यदि सत्य एक क्षण के लिए भी संसार का साथ छोड़ दे, तो ससार के कार्य चलना—कठिन ही नही, किन्तु—सर्वथा-असम्भव हो जाय। सुख्याति प्राप्त करने के लिए भी सत्य एक अद्वितीय साधन है। सत्य का पालन चाहे किसी प्रदेश मे किया जावे, परन्तु उस सत्यपालन से होने वाली सुख्याति उसी प्रदेश मे सीमित नही रहती, किन्तु पवन की तरह सर्वत्र फैल जाती है। लेकिन शर्त यह है, कि सत्य-पालन मे ख्याति की आकांक्षा न की जावे, किन्तु निकांक्ष होकर सत्य-पालन किया जाय। किसी आकांक्षा से सत्य-पालन करना तो, उस आकांक्षा का व्यापार हो जावेगा।

स्वर्ग की सुधर्म-सभा, वैसे तो नित्य ही सजी रहती थी, परन्तु आज विशेष-रूप से सजाई गई है। चारो ओर पारिजात के फूल लगे है और सभा मे चॅवर छत्रादि से सुशोभित इन्द्र बैठे है। लोकपालादि सब देवता और अप्सराएँ यथास्थान हैं, तथा आत्मरक्षकादि भृत्यगण यथास्थान खड़े है। सभा

के मध्य, नाचने-गाने का अखाड़ा बना हुआ है, जिसमे गायक-गायिकाएँ और नर्तक-नर्तकियें सुसज्जित खड़ी हैं।

गायक-गायिकाओं एवम नर्तक-नर्तकियों ने, इन्द्र से आज्ञा माँगी, कि आज हम लोग किस विषय के गीत गावें और नृत्य करें? इन्द्र ने कहा—संसार के अन्य विषयो पर तो, नित्य ही नृत्य-गान होता है, अतः आज सत्य के गीत गाओ और उसी के अनुसार नृत्य करो। सत्य के ही प्रताप से, हम लोग यहां यह आनन्द भोग रहे हैं। इसलिए, आज सत्य का ही गुणगान करके यहाँ बैठे हुए देवता तथा अप्सराओं को, सत्य का महत्व सुनाओ।

सत्य का गान करने के लिए इन्द्र की आज्ञा पाकर, गायकगण आदि बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होने, गान और नृत्य द्वारा सत्य का जो सजीव दृश्य दिखाया, उससे सारी सभा प्रसन्न हो उठी और सत्य के साथ ही गायक तथा नृत्यकारो की भी प्रशंसा करने लगी। गान-नृत्य के समाप्त होने पर, इन्द्र कहने लगे—

मेरे प्यारे देवताओ और अप्सराओ! आप लोगो ने जिस सत्य का नृत्यगान अभी देखा-सुना है, और जिसे देखकर तथा सुनकर आप लोग प्रसन्न हुए हैं, वह सत्य साक्षात मे जिसके पास होगा, वह कितना आनन्दित रहता होगा, इस बात को विचारो। सत्य सूक्ष्म है, अत. वह बिना साकार के उपयोग मे नहीं आ सकता और जबतक उपयोग मे न आवे किसी को प्रयोग में लाते न देखें, तबतक सत्य को समझने के लिए आदर्श नहीं मिलता। आप लोग देवलोक मे हैं, तब भी सत्य की इस मूर्ति के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, जिसके दर्शन का सौभाग्य मृत्युलोक के मनुष्यों को प्राप्त है। मृत्युलोक ने, अयोध्या का

राजा हरिश्चन्द्र, ऐसा सत्यवादी है, कि मानों साक्षात् सत्य ही हरिश्चन्द्र के रूप मे हो। हरिश्चन्द्र मे सत्य इस प्रकार व्याप्त है, जैसे फूल मे सुगन्ध, तिल मे तेल या दूध मे घृत। जिसप्रकार शरीर मे जीव सर्वत्र और समुद्र मे जल अथाह है, इसीप्रकार हरिश्चन्द्र मे सत्य सर्वत्र और अथाह है। जिस प्रकार मेरु पर्वत अचल है, उसी प्रकार हरिश्चन्द्र का सत्य भी अचल है। जिस प्रकार कोई सूर्य को चन्द्र, चन्द्र को सूर्य, लोक को अलोक, अलोक को लोक, और चैतन्य को जड़ तथा जड़ को चैतन्य बनाने मे असमर्थ नही है, उसी प्रकार हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करने मे भी कोई समर्थ नही है। जैसे इनकी मर्यादा स्थिर है, वैसे ही हरिश्चन्द्र का सत्य भी स्थिर है। हरिश्चन्द्र का कोई कार्य सत्य से खाली नही है। वह सत्य पर ध्रुव के सदृश अटल है। गङ्गा का बहाव पलटने मे, समुद्र का अन्त ढूँढने मे, जल से घृत निकालने मे और चन्द्रमा से अग्नि बरसाने मे, चाहे कोई समर्थ हो भी जाय, परन्तु सत्य से हरिश्चन्द्र को विलग करने मे, कोई कदापि समर्थ नही हो सकता।

हरिश्चन्द्र मृत्युलोक मे है और हम देवलोक मे हैं, इस विचार से आप उसे तुच्छ न समझे। धर्म-पुण्योपार्जन के लिए मृत्युलोक ही उपयुक्त है। मृत्युलोक मे उपार्जित धर्म पुण्य के ही प्रताप से, आप और हम इस लोक मे आनन्द भोग रहे हैं। यह विचार कर भी, कि हरिश्चन्द्र मनुष्य है और हम देवता हैं, आप हरिश्चन्द्र को छोटा न माने। जो धर्म-पुण्य मनुष्य-शरीर मे हो सकते हैं, वे इस देव-शरीर में नहीं। शरीर का अन्त करने और जन्म-मरण-रहित होने के लिए मनुष्य-जन्म ही धारण करना पड़ता है।

मनुष्य-शरीरधारी जीव, बिना देवयोनि प्राप्त किये मोक्ष जा सकता है, परन्तु देव-शरीरधारी, बिना मनुष्य-जन्म धारण किए मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते। अतः हरिश्चन्द्र को आप लोग न तो 'वह मनुष्य है' इसलिए छोटा समझें, न 'वह मृत्युलोक में है' इसलिए छोटा समझें। सत्यपालन के लिए, इस समय हरिश्चन्द्र अद्वितीय है। उसकी समता करनेवाला संसार में दूसरा कोई नहीं है।

संसार के मनुष्य, विशेषतः दो प्रकार के माने जाते हैं। एक दुर्जन, दूसरे सज्जन। सज्जन मनुष्य दूसरे की प्रशंसा सुनकर—दूसरे को सुखी देखकर—सुखी होते हैं और दूसरे को दुःख में जान, उन्हें स्वयं भी दुःख होता है। वे, उस दुखी मनुष्य के दुःख दूर करने का उपाय करते हैं। कभी, किसी को दुःख देने का विचार भी नहीं करते। दूसरों के दुर्गुणों का ढिंढोरा न पीटकर, वे उसके दुर्गुण दूर करने का प्रयत्न करते हैं और ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि दुर्गुणों को, पास भी नहीं फटकने देते। लेकिन दुर्जनों का स्वभाव, सज्जनों के स्वभाव से सर्वथा विपरीत होता है। वे, दूसरे के लाभ से अपनी हानि, दूसरे की हानि से अपना लाभ, दूसरे के दुःख से अपना सुख और दूसरे के सुख से अपना दुःख अनुभव करते हैं। दूसरे में सद्गुण देखकर, उन्हें ईर्ष्या होती है और दुर्गुण देखकर प्रसन्नता। दूसरे की प्रशंसा, उनको असह्य होती है, अतः वे उसे सुनने से घृणा करते हैं; किन्तु दूसरे की निन्दा करने या सुनने से, वे कभी नहीं थकते। उनका हृदय, काजल के समान कपट से भरा, मुख विष-घट के समान दुर्वाक्य से भरा, नेत्र अग्नि के समान क्रोध से भरे और मन बुरे विचारों से भरा रहता है। जिन्होंने, दुर्जनों की तुलना इन्द्र से करते हुए, उन्हें इन्द्र

से भी बड़ा बताया है। वे कहते हैं कि इन्द्र का शस्त्र वज्र, इन्द्र के हाथ मे रहता है और वह केवल शरीर पर ही अघात पहुँचा सकता है, लेकिन दुर्जनो का शस्त्र दुर्वचन, दुर्जनों के मुख में रहता है और वह मनुष्य के हृदय पर आघात पहुँचाता है। वज्र का घाव और पीड़ा तो मिट भी जाती है, परन्तु दुर्वचन का घाव और पीड़ा मिटनी कठिन है। इन्द्र की आँखो मे जितना तेज है, दुर्जनो की आँखो मे उतना ही क्रोध है। इन्द्र, अपनी आँखो से दूसरे के सद्गुण देखते हैं, तो दुर्जन अपनी आँखो से दूसरे के दुर्गुण देखता है। सारांश यह कि दुर्जन भी एक प्रकार का इन्द्र है। अन्तर केवल इतना ही है, कि इन्द्र सद्गुणो से बड़े है और दुर्जन दुर्गुणो से। अस्तु।

एक ही वस्तु, प्रकृति की भिन्नता से भिन्न-भिन्न गुण देती है। जो जल सीप मे पड़कर मोती बन जाता है, वही जल यदि सर्प के मुँह मे गिरता है, तो विष बन जाता है। जो बात सज्जनों को सुख देनेवाली होती है, वही बात दुर्जनो को दु.ख देनेवाली हो जाती है। जो वर्षा, संसार के सब वृक्षो को हरियाली-पूर्ण कर देती है, सब वृक्ष जिस वर्षा से प्रफुल्लित हो उठते हैं, उसी वर्षा से जवास सूख जाता है। सारांश यह, कि अच्छी वस्तु भी, उल्टी प्रकृतिवाले के लिए बुरी हो जाती है।

सज्जन-मनुष्य, दूसरे की प्रशंसा सुनकर, दूसरे मे गुण देखकर प्रसन्न होते है, परन्तु वही सज्जनो की प्रसन्नता का कारण, दुर्जनो की अप्रसन्नता का कारण बन जाता है। वे तो, केवल [illegible]रे की निंदा और दूसरे के दुर्गुणो से प्रसन्न होते हैं, जो [illegible]ो को दु.ख होने का कारण है।

इन्द्र द्वारा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा सुनकर, और सब देव-अप्सरादि तो प्रसन्न हुए, वे हरिश्चन्द्र के सत्य और उसके साथ ही मृत्युलोक तथा मनुष्य-जन्म की सराहना करके सत्य-रहित देव जन्म को धिक्कारने लगे, लेकिन इन देवों में से एक देव को हरिश्चन्द्र की प्रशंसा अच्छी न लगी। वह इन्द्र के भय से प्रकट में तो कुछ न बोल सका, परन्तु हृदय-ही-हृदय में जल रहा था और विचारता था कि—ये इन्द्र हैं तो क्या हुआ, लेकिन इनको अपने पद की प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं है। देवताओं के सन्मुख सुरपति होकर, हाड़चाम से बने, रोगादि व्याधियों से युक्त मनुष्य की प्रशंसा करना, कितना पतन प्रकट करता है। मैं डरता हूँ, अन्यथा इसी सभा में खड़ा होकर, इन्द्र के कथन का विरोध प्रकट करते हुए कहता, कि क्या हरिश्चन्द्र हम देवताओं से भी बड़ा है, जो देव-सभा में उसकी प्रशंसा की जा रही है? लेकिन, मैं इन्द्र के कथन का प्रतिवाद मुख से न करके कार्य से करूँगा और जिस हरिश्चन्द्र की प्रशंसा इन्द्र ने बड़े गद्‌गद्-स्वर में की है, उस हरिश्चन्द्र को सत्य से पतित करके, इन्द्र को दिखला दूँगा कि आपने उस हरिश्चन्द्र की सत्य-भ्रष्टता देखलो, जिसके सत्य की प्रशंसा देव-सभा में करते हुए, आपने देवताओं को उससे तुच्छ होने के भाव दर्शाये थे और हरिश्चन्द्र को सत्य की मूर्ति बतलाते थे, तथा इसके साथ ही मृत्यु-लोक और मनुष्य-जन्म की भी सराहना करते थे।

दुर्जनों को, विशेषतः सद्गुणों से ही द्वेष होता है। इसीलिये वे दूसरे की सद्कीर्ति सुनकर, या दूसरे को सुखी देखकर ईर्षाग्नि से जलने लगते हैं। जिस प्रकार राहु, चन्द्रमा को ग्रसने की

चिन्ता में रहता है, उसी प्रकार वे दूसरे की कीर्ति सुख और गुण ग्रसने की चिन्ता मे रहते है तथा इसके लिए उपाय सोचते एवं अवसर की प्रतीक्षा किया करते है। इन्द्र ने, यदि हरिश्चन्द्र की प्रशंसा की, या हरिश्चन्द्र मे सत्यपरायणता थी, तो इससे उस देव की कोई हानि न थी परन्तु दुर्जन के स्वभावानुसार वह अकारण ही हरिश्चन्द्र के साथ ही सत्य और इन्द्र से भी ईर्ष्या करने लगा।

संसार में, ईर्ष्या के बराबर दूसरा दुर्गुण नही है। ईर्ष्या यद्यपि अग्नि नही है, परन्तु फिर भी यह जिसमे होती है, उसके शरीर को निरन्तर दग्ध किया करती है। ईर्ष्या करनेवाले का चित्त किसी अवस्था मे भी प्रसन्न नही रहता। वह, इस विचार से भीतर-ही भीतर जला करता है, कि यह गुण, यह सुख, या यह यश-वैभवादि इस दूसरे को क्यो प्राप्त है। फिर चाहे वे ही सुख वैभव उस ईर्ष्या करनेवाले को भी क्यो न प्राप्त हो, परन्तु वह इन्हीं को दूसरे के समीप नही देख सकता।

वह देव, क्रोध और ईर्ष्या से भरा हुआ घर आया। उसकी स्त्रियें (अप्सराएँ) उसकी आकृति देखकर डर उठी, कि आज ये न मालूम क्यो अप्रसन्न हैं। उन्होने, डरते-डरते अपने पति से पूछा, कि आज आपका चित्त क्यो मलिन है? आँखे क्यो लाल है और शरीर क्यो काँप रहा है? जान पड़ता है, कि आपको इस समय क्रोध हो रहा है। अत. हम जानना चाहती हैं, कि आप किस पर क्रुद्ध है? क्या देव-सभा मे इन्द्र ने, आपका कोई अप किया है, या किसी और ने आपको ऐसी बात कही है आपको क्रोध हो आया—या और कोई कारण है?

देव—क्या तुम लोग देव-सभा में न थीं ?

अप्सराएँ—हम भी वहाँ थीं और अभी वहाँ से चली आ रही हैं।

देव—फिर तुम्हें नहीं मालूम कि वहाँ क्या हुआ था ?

अप्सराएँ—मालूम क्यों नहीं है। वहाँ, सत्य के विषय में व्याख्यान हुआ था और उसके पश्चात इन्द्र ने हरिश्चन्द्र के सत्य की महिमा वर्णन की थी।

देव—क्या यह अपमान कम है ? हम देव-शरीरधारियों के सन्मुख, हमारी ही सभा में, हमारा ही राजा, मृत्युलोक के मनुष्य की प्रशंसा करे और हम उसे सुनें, इससे ज्यादा अपमान और क्या होगा ? क्या सत्य, मृत्युलोक में और वहाँ के मनुष्यों में ही है ? देवलोक और देवताओं में, सत्य नहीं है ? फिर मृत्युलोक के मनुष्यों के सत्य की प्रशंसा करके, हरिश्चन्द्र को संसार में सबसे बड़ा सत्यधारी बतलाया जाय, और देवलोक तथा देवताओं के गौरव-सम्मान की अवहेलना की जाय, यह कितना अनुचित है ? यद्यपि सब देव और अप्सराएँ वहाँ बैठी सुनती थीं, परन्तु सब इन्द्र के मुख से हरिश्चन्द्र की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हो रहे थे। किसी की भी बुद्धि में यह बात न आई कि इस प्रकार देवलोक और देवताओं का कितना अपमान हो रहा है। यदि मैं न होता, तो इस अपमानजनक बात पर कोई विचार ही न करता। परन्तु सौभाग्य से मैं वहाँ उपस्थित था, इसलिए मुझे इस अपमान का ध्यान आया।

लिया है, कि हरिश्चन्द्र को सत्य से पतित करके, इस प्रकार इन्द्र द्वारा की गई उसकी प्रशंसा का प्रतिवाद करूं और देवों पर लगे हुए इस कलङ्क को मिटाकर, इन्द्र को उनकी अपनी भूल दर्शा दूॅं।

क्रोध के आवेश मे, अच्छे-बुरे का ध्यान नही रहता। क्रोधी की बुद्धि, भ्रष्ट हो जाती है; इसीसे वह, न कहने योग्य बात कह डालता और न करने योग्य कार्य कर डालता है। इन्द्र, यद्यपि इस देव का स्वामी है, इसलिये पूज्य है, परन्तु क्रोधवश, इसने इन्द्र के लिये भी असभ्यता भरे शब्दो का प्रयोग कर डाला। आगे चलकर, इस देव को अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करना पड़ेगा, परन्तु कोधवश इस समय उसको बात के औचित्यानौचित्य का ध्यान नहो है। इन्हीं कारणो से, ज्ञानी-पुरुष क्रोध-त्याग का उपदेश देकर कहते हैं, कि क्रोध से सदा बचो।

देव के स्वभाव से, उसकी अप्सराएँ परिचित थीं। वे विचारने लगी, कि स्वामी को दूसरे के गुण और दूसरे की प्रशंसा से द्वेष है। इनका यह रोग असाध्य है। इसलिए इस विषय में इनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ कहना, इनकी क्रोधाग्नि में आहुति डालना है। हरिश्चन्द्र के सत्य की प्रशंसा सुनकर, अन्य देवों की तरह इन्हे भी प्रसन्न होना चाहिए था, परन्तु प्रसन्नता के बदले इनके हृदय में ईर्षाग्नि भभक उठी है। उन्होने, देव से फिर पूछा, कि आप हरिश्चन्द्र को सत्य-भ्रष्ट किस प्रकार करेंगे?

देव—इसका भी उपाय मैं कुछ-न-कुछ विचार ही लूॅंगा; कन, पहले मैं यह जानना चाहता हूँ, कि तुम लोगो को मैं जो । दूँगा, उसका पालन करोगी या नही? मैं, तुम्हारी भी

तीसरी—लेकिन पति ने कही हम लोगो को, छल-द्वारा हरिश्चन्द्र का सत्य भंग करने की आज्ञा दी, तब ?

चौथी—हम लोगो को इससे क्या मतलब ? हम तो पति की आज्ञा का पालन करेगी। इन्द्र के कथन पर विश्वास रक्खो, हरिश्चन्द्र सत्य से कदापि विचलित नही हो सकता। सम्भव है, कि पति के इस उपाय से हरिश्चन्द्र का सत्य, और भी अधिक ख्याति प्राप्त करे। हम लोगो को, इसी बहाने उस सत्यमूर्ति-हरिश्चन्द्र के दर्शन तो हो जायँगे, जिसकी प्रशंसा स्वयं इन्द्र ने की है। हमारी स्वयं तो यह इच्छा है नहीं, कि हम भी हरिश्चन्द्र को सत्य से विचलित करने मे पति का सहयोग करे, लेकिन जब ऐसा करने के लिए विवश की जाती हैं, तो चारा ही क्या है ? शास्त्रकारो ने, इस बात को स्पष्ट कर दिया है, कि यदि विवश होकर किसी अनुचित-कार्य मे प्रवृत्त होना पड़े, तो अपना हृदय निर्मल रखे। ऐसी दशा मे, उस अनुचित-कार्य के अपराध से बहुत-कुछ बच जाता है। इसी के अनुसार, हम लोग निर्मल हृदय हैं, विवश होकर पति के इस अनुचित कार्य मे सहयोग कर रही है; अतः अपना कोई अपराध न होगा। बल्कि हम तो पति-आज्ञा-पालन का लाभ भी प्राप्त करेगी और उसके साथ ही हरिश्चन्द्र के दर्शन का लाभ भी प्राप्त करेगी।

इस प्रकार विचार करके, अप्सराओ ने देव को उत्तर दिया कि—हम तो आपकी आज्ञाकारिणी ही है, आपकी आज्ञा का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है, अत आप जो आज्ञा देगे, हम पालन करेगी।

अप्सराओ का उत्तर सुनकर, देव इस विचार से प्रसन्न हो

प्रसन्नता के साथ ही वह दूसरी चिन्ता में पड़ गया, कि हरिश्चन्द्र का सत्य भङ्ग करने के लिए, किस उपाय से काम लिया जाय। विचारवान मनुष्य को, अपनी वृत्तियों के अनुसार कोई न कोई उपाय सूझ ही जाता है। इसी के अनुसार, देव ने इस कार्य की सफलता का उपाय सोच लिया। उसने विचारा, कि इस कार्य मे विश्वामित्र को अपना अस्त्र बनाना उपयुक्त होगा। उनकी प्रकृति क्रोधी है, वे भी अपने क्रोध को शान्त करने के लिए, प्रत्येक सम्भव-उपाय से काम लेते है, अत. उन्हे अस्त्र बनाने से, इस कार्य में निश्चय ही सफलता प्राप्त होगी। मै, यदि प्रत्यक्ष मे हरिश्चन्द्र से कोई छल करूँगा, तो सम्भव है, कि वह सावधान हो जाय। इसलिये, मै तो अप्रकट रहूँगा और विश्वामित्र को हरिश्चन्द्र से भिड़ा दूँगा। विश्वामित्र, स्वभावत क्रोधी है। केवल उनके क्रोध को बढ़ा देने भर का काम है। एक बार हरिश्चन्द्र पर जहाँ उनका क्रोध भड़क उठा, फिर वे किसी के वश के नही हैं और हरिश्चन्द्र को येन-केन प्रकारेण अपमानित करके ही छोड़ेगे। हरिश्चन्द्र की ख्याति, सत्य के ही कारण है, अत बिना सत्य भङ्ग किये, उसका अपमान नहीं हो सकता। विश्वामित्र, अपना क्रोध मिटाने के लिए उसे सत्य से ही पतित करेगे, और इस प्रकार मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी।

हरिश्चन्द्र पर विश्वामित्र को कैसे कुपित किया जाय, इसके लिए देव ने विचारा, कि अप्सराओ द्वारा विश्वामित्र के आश्रम का उपवन नष्ट कराया जाय। उपवन के नष्ट होने से, वे निश्चय ही अप्सराओं पर क्रुद्ध होगे। अप्सराओ पर क्रुद्ध होकर वे उन्हे जला तो सकेंगे ही नहीं, केवल शारीरिक-दण्ड देगे। उस शारी-

रिक-दण्ड के भोगते समय, ये हरिश्चन्द्र की शरण जावेगी। हरिश्चन्द्र सत्य के लिए तो प्रसिद्ध है ही, इसलिए वह अवश्य इन अप्सराओं को कष्ट-मुक्त करेगा। अप्सराओं को कष्ट-मुक्त करने से, विश्वामित्र की क्रोधाग्नि हरिश्चन्द्र पर निश्चय ही भडक उठेगी और इस प्रकार यह षड्यंत्र सफल हो जायगा।

देव ने, अप्सराओं को आज्ञा दी, कि तुम विश्वामित्र के आश्रम को जाकर, उनके आश्रम के समीप जो उपवन है, उसे यत्र-तत्र नष्ट करो। विश्वामित्र के क्रोध से तुम किंचित् भी भय न करना और वे जो कुछ दण्ड दे, उसको सहन करती हुई, हरिश्चन्द्र की शरण लेना। हरिश्चन्द्र की शरण जाने पर, वह तुम्हे उस दण्ड के कष्ट से मुक्त कर देगा, बस तुम चली आना। तुम्हारी इतनी ही सहायता से मैं, अपने कार्य मे सफलता प्राप्त कर लूँगा।

देव की आज्ञा पाकर, अप्सराएँ विश्वामित्र के आश्रम में आई और उनके उपवन मे क्रीडा करती हुई, उसे नष्ट-भ्रष्ट करने लगी। विश्वामित्र के शिष्यो ने उन्हे रोका, समझाया और विश्वामित्र का भय दिखाया, परन्तु वे न मानी। बल्कि, कोई उन शिष्यों की हँसी उडाने लगी, कोई उन्हे डाटने लगी और कोई कहने लगी कि हमे प्रत्येक स्थान पर क्रीड़ा करने का अधिकार है, तुम रोकनेवाले कौन हो? शिष्यो का जब उन अप्सराओं पर कोई वश न चला, तब वे चिल्लाते हुए, समाधिस्थ विश्वामित्र के समीप गये। शिष्यो का कोलाहल सुनकर, विश्वामित्र की आंख खुली। उन्होने, शिष्यो से हल्ला मचाने का कारण पूछा। शिष्यो ने कहा, कि कुछ अप्सराएँ उपवन को नष्ट किये

डालती हैं, जिससे इतने दिनो तक किया हुआ परिश्रम व्यर्थ जा रहा है। वे रोकने पर भी नही रुकतीं, बल्कि हँस-हँसकर, अपने आपको ऐसा करने की अधिकारिणी बतलाती हैं। उन्हे, आपका किंचित् भी भय नही है।

शिष्यो की बात सुनते ही, विश्वामित्र की आँखे क्रोध से लाल हो उठीं। वे उपवन मे आकर देखते हैं, कि अप्सराएँ निर्भीकता-पूर्वक किसी वृक्ष के पत्ते तोड़ रही हैं, और किसी के फल, फूल डाली आदि। उन्होने, क्रोधित होकर अप्सराओ से पूछा, कि तुम मेरे उपवन को क्यो उजाड़ रही हो ? जानती नही हो, कि यह आश्रम उन विश्वामित्र का है, जिनके क्रोध से आज सारा संसार भयभीत हो रहा है ! अब, तुम अपने कृत्य के लिए मुझसे क्षमा-प्रार्थना करो और यहाँ से शीघ्र ही भाग जाओ, अन्यथा तुम्हे उचित दण्ड दूँगा।

विश्वामित्र की, क्रोध-भरी लाल आँखो को देखकर, तथा उनकी बातो को सुनकर, अप्सराएँ किंचित्मात्र भी भयभीत न हुईं। उल्टे उन्हे देखकर हँसने लगी और उनका उपहास करने लगीं। उनमे से किसी ने कहा कि ये साधु बने है, जो स्त्रियो को क्रीडा करते हुए रोकते हैं। कोई बोली—तुम साधु हो, जाकर अपना काम करो। हमारी जो इच्छा होगी, करेगी, तुम हमें कैसे रोक सकते हो ?

उनका यह व्यवहार, विश्वामित्र की क्रोधाग्नि मे आहुति का कार्य कर रहा था। विश्वामित्र का क्रोध, चरम-सीमा पर पहुँच गया, किन्तु, ये स्त्रिये थीं और देवाङ्गनाएँ थी, अत मिश्वामित्र इन्हें भस्म करने मे असमर्थ थे। विवश हो, विश्वामित्र ने केवल

यह श्राप देकर सन्तोष किया, कि "ऐ दुष्टाओ ! तुमने जिन हाथों से मेरे उपवन के वृक्षों को नष्ट किया है, लतादिक को तोड़ा-मरोड़ा है, वे तुम्हारे हाथ, मेरे तप के प्रभाव से उन्ही लताओ में बँध जायँ।"

तप की शक्ति महान् होती है। इस शक्ति को न मानने की, किसी मे भी शक्ति नही है। किन्तु जहाँ विवेकी-मनुष्य का तप संसार घटाने मे सहायक होता है, वहाँ अविवेकी-मनुष्य की तपस्या, उसके संसार बढ़ाने का ही हेतु हो जाती है, मोक्ष का हेतु नहीं। तप की शक्ति के अधीन देवता भी है। जिसमे तप की शक्ति है, उसका वरदान या श्राप मिथ्या नही होता।

अप्सराएँ, देवांगना होने के कारण, शक्ति-सपन्न थी, परन्तु तप-बल के आगे उनकी कोई शक्ति न चली। विश्वामित्र का श्राप होते ही, उनके कोमल-हाथ, लता द्वारा वृक्षो में बँध गये और वे तड़फड़ाने लगी। उन्होने छूटने के अनेक उपाय किए, परन्तु एक भी सफल न हुआ। देवांगनाओ को बँधी देख, विश्वामित्र उनसे कहने लगे कि अब तुमने मुझे देख लिया, कि मै कौन हूँ, मुझ मे क्या शक्ति है और मै क्या कर सकता हूँ ? मैं, पहले समझाता था, तब न मानी अब उसका फल भुगतो और युग-युगान्तर तक बँधी रहो। मैं तुमको और भी कठिन-दण्ड दे सकता था, यहाँ तक कि तुम्हे भस्म भी कर सकता था, परन्तु मैंने तुम पर स्त्री होने के कारण दया की है। इसलिए इतना ही दण्ड दिया है।

इस प्रकार, आत्म-प्रशंसा करके विश्वामित्र, अपने समाधि ल को चले गये।

देव ने जब देखा, कि विश्वामित्र ने अपने तप-बल से, अप्स-राओं को वृक्षो मे बॉध दिया है, तब वह एक अनुपस्थित-सेवक का रूप बना, हरिश्चन्द्र के भृत्यो मे सम्मिलित हो गया। उसका ऐसा करने का अभिप्राय यह था, कि किसी प्रकार हरिश्चन्द्र को इस ओर लाकर, इन अप्सराओ को उसके हाथ से छुड़वाऊॅ, जिसमे विश्वामित्र का सब क्रोध हरिश्चन्द्र पर पलट जाय।

नीतिज्ञ-राजालोग, अपने नित्य के राज-कार्य से निवृत्ति पाकर बाहर घूमने निकला करते है। आज के अनेक राजाओ ने, इस घूमने के कार्य को, निर्दोष-पशुओ के शिकार मे परिणत कर दिया है, परन्तु यह धर्म-शास्त्रो को न पढ़ने-सुनने और सत्संग न करने का कारण है। अब के राजा लोग, यदि बाहर निकले भी, तो या तो शिकार के अभिप्राय से निकलेगे, या मोटर पर इसप्रकार निकलेंगे, कि वे लोग, जो राजा से कुछ प्रार्थना करना चाहते हो, मौका पड़ने पर मोटर के नीचे ही कुचल जायॅ। इसके सिवा स्थान-स्थान पर पुलिस का ऐसा पहरा हो जायगा, कि लोग, राजा को अच्छी तरह देख भी न पावेगे, यह तो बहुत दूर की बात है, कि कोई उनको अपना दु.ख सुना सके। लेकिन पहले के राजालोग, इस अभिप्राय से घूमने निकला करते थे, कि एक तो वे दुःखी-मनुष्य, जो किसी कारण से राजा तक नही पहुँच पाते, अपना दु.ख राजा को सुना सके। दूसरे वह प्रजा, जो राजा को पितावत् समझती है, राजा के दर्शन कर प्रसन्न हो जाय और राजा भी प्रजा को पुत्र की तरह देख ले। तीसरे, नगर, देश, फसल, स्वच्छता' आदि का भी निरीक्षण होजाय और स्वयं का स्वास्थ्य भी अच्छा रहे। वे लोग, किसी धीमी-

सवारी पर या पैदल इस प्रकार आवाज दिलवाते हुए चलते थे, कि राजा के आने की सबको खबर हो जाय। फिर, जिसे जो कुछ प्रार्थना करनी होती, वह राजा से करता और राजा उसे ध्यानपूर्वक सुनकर, उसका दुःख मिटाने का उपाय करता।

नित्य की तरह राजा हरिश्चन्द्र, राजकार्य से निवृत्त हो घूमने निकले। नगर मे होते हुए, वे जङ्गल मे गये। जङ्गल में, उस सेवक का रूप धारण किये हुए देवता के कहने से, वे विश्वामित्र के आश्रम की ओर चले गये। आश्रम मे बँधी हुई अप्सराओं ने, चोबदार की आवाज सुन उधर दृष्टिपात किया, तो मालूम हुआ कि कोई चवॅर-छत्रधारी आ रहा है। अप्सराओं ने अनुमान किया, कि हो न हो, हरिश्चन्द्र ही इस ओर आ रहे हैं। हमारे बड़े भाग्य है, कि इस बहाने हमें हरिश्चन्द्र के दर्शन तो होंगे, लेकिन सम्भव है कि हमारे चुप रहने से, हरिश्चन्द्र इस ओर ध्यान न दे और हम बँधी हुई ही रह जायँ, तथा हरिश्चन्द्र के दर्शन भी न हो। अतः अपन सब मिलकर चिल्लाओ। जिससे, हरिश्चन्द्र अपनी पुकार सुनकर इसी ओर आवे।

इस प्रकार विचार करके, अप्सराओं ने करुणोत्पादक, चीत्कार प्रारम्भ किया। उनकी दुःख भरी पुकार सुनकर, हरिश्चन्द्र ने सेवकों को आज्ञा दी, कि ऋषि-आश्रम के समीप कौन रोता है, शीघ्र पता लगाओ। सेवकगण, हरिश्चन्द्र की आज्ञा पाकर आश्रम मे गये और लौटकर हरिश्चन्द्र से प्रार्थना की, कि आश्रम मे चार कोमलांगी-अप्सराओं को, किसी ने, बड़ी निर्दयतापूर्वक वृक्ष से [illegible] रखा है। उन्ही की यह पुकार है। वे आपसे, मुक्त कर देने के लिये, प्रार्थना करती हैं।

राजा के हृदय में, उन अप्सराओ के प्रति, दया उत्पन्न हुई। वे, तत्क्षण आश्रम मे आये और उनने अप्सराओ से पूछा कि—तुमको किसने और क्यों बॉध रखा है ?

अप्सराएँ—हम, इस उपवन मे क्रीड़ा करती हुई फूलादि तोड़ती थीं, अत विश्वामित्र ऋषि ने क्रोधित हो, अपने तप-बल से हमें इन वृक्षो में बॉध दिया।

हरिश्चन्द्र—तुमको, ऋषि के आश्रम मे आकर, विघ्न करना उचित न था। क्रीड़ा करने के लिए, अन्य-स्थानो की कमी नही है। तुमने अपराध तो अवश्य किया है, लेकिन ऋषि ने तुम्हे जो दण्ड दिया है, वह अपराध से बहुत अधिक है। इसके सिवा मुनि को दण्ड देना भी उचित न था, क्योंकि दण्ड देना, उनके अधिकार से परे की बात है। मैंने, दण्ड देने के ही लिए, राज-दण्ड अपने हाथ मे ले रखा है। दण्ड देना मेरा काम है, मुनि का काम दण्ड देना नही है।

अप्सराएँ—हम आप से प्रार्थना करती है, कि आप हमें बन्धन-मुक्त कर दीजिये।

हरिश्चन्द्र—मैं, तुम्हे छोड़ तो देता हूँ, परन्तु भविष्य में किसी आश्रम में विघ्न मत करना।

अप्सराएँ—अब कदापि ऐसा न करेंगी।

एक क्रोधी-तपस्वी के तपोबल की अपेक्षा, एक गृहस्थ सत्यवादी का सत्यबल कहीं अधिक है। मनुष्य, तपस्या चाहे जितनी करता हो, किन्तु जो क्रोध का दमन न कर सका, उसकी अपेक्षा वह गृहस्थी ही प्रशंसनीय है, जो गृहस्थ होकर सत्यपरायण है।

हरिश्चन्द्र ने, उन अप्सराओ को खोलने के लिए, जैसे ही

हाथ लगाया, वैसे ही वे अप्सराएँ बन्धन-मुक्त हो गईं और हरिश्चन्द्र के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने लगी। हरिश्चन्द्र से आज्ञा पाकर, वे विमान मे बैठ, आकाश मे उड गईं। वहाँ से, हरिश्चन्द्र पर पुष्प-वृष्टि करके, आपस मे कहने लगी —

पहली—हरिश्चन्द्र के चेहरे पर, कैसा तेज झलक रहा है, मानो तेज की मूर्त्ति हो।

दूसरी—यह सत्य का ही तेज है। उसके हाथो में सत्य की कैसी विचित्र-शक्ति है, कि जिस बन्धन से छूटने मे हमलोग देवांगना होते हुए भी हार खा चुकी थीं, वही बन्धन, हरिश्चन्द्र के हाथ लगाते ही टूट गये। ऋषि का वह तपबल, जिसका प्रभाव मेटने मे हम असमर्थ रही, हरिश्चन्द्र के सत्यबल से परास्त हो गया। हरिश्चन्द्र की ही कृपा से हम छूट सकी है, अन्यथा न मालूम कब-तक बँधी रहती। राजा के हाथ, वैसे तो साधारण ही है—सौन्दर्यादि मे तो उनके हाथो से अपने हाथ कही बढ़कर हैं,—परन्तु उनके हाथो मे कैसी असाधारण शक्ति है, कि बन्धन खुलने मे क्षण-मात्र की भी देर न लगी।

तीसरी—जिस हरिश्चन्द्र मे सत्य का इतना तेज है, जो इस-प्रकार पर-दु.ख-भंजक है, उसके सत्य के डिगाने मे, पति कदापि समर्थ नही हो सकते। पति की, यह चेष्टा व्यर्थ है।

चौथी—यद्यपि तुम्हारा यह कहना ठीक है, परन्तु पति-आज्ञा-पालन का ही यह फल है, कि सत्यमूर्ति-हरिश्चन्द्र के दर्शन भी हो गये और उसके साथ ही, सत्य पर भी दृढ़-विश्वास हो गया।

तो, पति की आज्ञा मानने से लाभ मे ही है। पति-

का कैसा प्रत्यक्ष फल मिला।

इस प्रकार बातें करती हुई, अप्सराएँ अपने घर आईं। देव भी, यह विचारकर अपने घर चला आया, कि हरिश्चन्द्र पर विश्वामित्र को क्रोध करने का कारण पैदा कर ही दिया है, अब आगे क्या होता है, यह देखेंगे। आशा तो है, कि यह षड्यन्त्र पूर्ण-रूपेण सफल होगा।

उधर, हरिश्चन्द्र भी अपने घर गये। अप्सराओं को छोड़ने का कार्य, उनकी दृष्टि मे कोई महत्व न रखता था, इसलिए उन्हें स्मरण भी न रहा, कि मैंने विश्वामित्र की बाँधी हुई अप्सराओं को बन्धन-मुक्त किया है।

हरिश
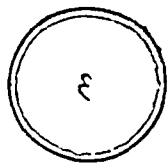
विश्वामित्र का कोप

—※—

दूसरे को दु ख देनेवाला, स्वयं भी दु ख
को आघात पहुँचाने मे, अपने हाथ को भी
किसी दूसरे को अपमानित करने के लिए, प
निर्लज्ज बनना पड़ता है। सारांश यह, कि दूस
स्वयं को भी हानि उठानी पड़ती है; लेकिन द
चाने मे, दूसरे को सम्मानित करने मे, और द
मे, स्वयं को भी सुख अनुभव होना है। इसी
देश देते हैं, कि किसी के आत्मा को कष्ट न
चाओ, तो तुम स्वयं भी सुख पाओगे।

अप्सराओ को बाँधकर विश्वामित्र, अप
गये। उन्हे, इस बात का गर्व है, कि मैने अ
राओ को बाँध दिया है, अब इन्हे खोलने
नही है। जब मुक्त करूँगा, तब मै ही। इस
मुझसे अनेक प्रकार की अनुनय-विनय क
ोध जताता हुआ, इन्हे बन्धनमुक्त करूँगा
विश्वामित्र, समाधि मे बैठे, किन्तु उन

के न्याय करनेवाले, प्राय. न्यायकार्य को विशेष-समय तक पटक रखने और प्रजा को बार-बार चक्कर देकर, अपना न्यायालय भरा रखने मे ही अपनी प्रतिष्ठा समझते है, परन्तु ऐसा करना न्याय-प्रणाली के विरुद्ध है।

महाराजा-हरिश्चन्द्र ने, न्याय के जितने भी मामले थे. उन सब का फैसला कर दिया। वे, न्यायासन से उठने को ही थे, इतने मे द्वारपाल ने समाचार दिया, कि विश्वामित्र ऋषि दण्ड हैं और वे आपसे न्याय चाहते हैं। हरिश्चन्द्र, इस समाचार को सुनकर आश्चर्य मे पड़ गये, कि विश्वामित्र तो ऋषि है, वे न्यायालय मे किस कारण से आये है ? यदि मेरे योग्य कोई कार्य था, तो उन्हे मुझे ही सदेशा देकर बुलवा लेना चाहिए था, परन्तु वे स्वय आये, यह क्यो ? ऋषि-मुनि को न्यायालय की शरण लेनी कदापि उचित नही है, फिर विश्वामित्र ऐसे तपस्वी न्यायालय मे आवें, यह तो और भी आश्चर्य की बात है। राजा ने द्वारपाल को उत्तर दिया कि उन्हे सम्मान सहित ले आओ।

पहले, यह कहा जा चुका है, कि संसार के मनुष्य दो श्रेणियों मे माने जाते है। एक दुर्जन, दूसरे सज्जन। सज्जनो के मिलने पर हृदय प्रसन्न होता है, परन्तु दुर्जनो का नाम सुनकर ही लोग भयभीत हो जाते है। है तो दुर्जन और सज्जन दोनो मनुष्य ही, परन्तु दोनो की प्रकृति मे भिन्नता है। तुलसीदासजी ने कहा है —

बिछुरत एक प्राण हरि लेही, मिलत एक दारुण दुख देही।
जहि एक संग जल माहीं, जलज जोंक जिमि गुण विलगाही॥

अर्थात—संसार के प्राणी दो प्रकार के है। एक तो वे,

जिनका वियोग होते ही प्राण निकलने लगते हैं, अर्थात् उनका वियोग असह्य हो जाता है, और दूसरे वे, जो मिलने पर कठिन दुःख का कारण हो जाते है। यानी जिनसे मिलना भारी दुःख की बात है। यह उनकी प्रकृति की भिन्नता का कारण है। जैसे- कमल और जोंक, एक ही साथ, एक ही पानी मे पैदा होते है, किन्तु दोनों के गुण पृथक्-पृथक् है।

सांप और दुमुही (दो मुँहवाला साँप), दोनो एक ही जाति के जीव हैं। दोनो की आकृति आदि मे भी, कोई विशेष अंतर नहीं होता, किंतु दोनो की प्रकृति मे महदंतर है। साँप तो, मनुष्य, पशु आदि को काटता है, जिससे उनके प्राण तक चले जाते हैं, परंतु दुमुही नही काटती। इस कारण, जहाँ लोग साँप को देखकर भयभीत हो उठते है, उसे मारने तक को तैयार हो जाते है, वहीं दुमुही को देखकर प्रसन्न होते है, उसका दिखाई देना शुभ-शकुन मानते हैं और उसकी पूजा करते हैं। सारांश यह, कि पूजा या निन्दा, कुख्याति या सुख्याति आदि बाते, अपनी प्रकृति पर ही निर्भर है।

जिसप्रकार सर्प को देखकर, और लोग तो भयभीत हो जाते है, परन्तु सर्प का मंत्र जाननेवाला उससे भय नही करता, उसीप्रकार सभा के और लोग तो विश्वामित्र के आने से सशङ्क हो उठे, कि ये न मालूम क्या गजब करेगे, परंतु हरिश्चन्द्र निःशङ्क हैं।

छोड़नेवाला अपराधी है या नही, और यदि है, तो किस दण्ड के योग्य है ?

विश्वामित्र की इस बात को सुनते ही, हरिश्चन्द्र को कल की बात स्मरण हो आई। वे समझ गये, कि ऋषि अपने तप-बल का प्रभाव बतलाते हुए, यह बात मेरे पर ही कह रहे हैं। राजा ने हँसते हुए और उनके तप-बल पर व्यंग करते हुए कहा—महाराज, यह बात तो मुझ पर ही है। क्योंकि, मैंने ही कल अप्सराओं को बंधन-मुक्त किया था। लेकिन, उनको छोड़ने मे, न तो, मेरा भाव आपसे दुश्मनी का था, न प्रतिद्वन्द्विता का और न अवज्ञा करने का ही। वे लोग, लता-वृक्षो से बँधी, दु:ख पाती हुई चिल्ला रही थीं, इसलिए मैंने दया करके उन्हे छोड़ दिया। केवल दया ही नही, वल्कि मेरा कर्त्तव्य भी है, कि अनधिकारी यदि किसी को वन्दी बना कर रखे, तो उस वन्दी को मुक्त करके, उस बन्दी बनाने वाले को उचित दण्ड दूँ। मैंने तो केवल उन्हे छोड़ा ही है, और वह भी करुणा करके। ऐसी अवस्था मे मेरा कोई अपराध नही है। इस मामले मे, आप वादी है और मै प्रतिवादी हूँ; अतः यदि आप उचित समझे, तो इस मामले का न्याय पंचो द्वारा करवा लिया जाय।

हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनकर, विश्वामित्र विचारने लगे कि, मैंने तो यह सोचा था, कि इसप्रकार इससे अपराध स्वीकार कराकर, इसीके मुँह से इसे दण्ड दिलवाऊँगा, परन्तु इसने तो मुझे ही अपराधी ठहराया और मुझे दण्ड नही दिया, यह अपनी कृपा रहा है। विश्वामित्र को, यह विचार आते ही, वैसी ही हुई, जैसी निराशा अदालत में मुकदमा हार जानेवाले को

हुआ करती है। वे, असमञ्जस मे पड़ गये, कि यदि मैं राजा के कथन को ठीक मानता हूँ, तो एक प्रकार से इसकी सभा मे मेरा अपमान होता है। और यदि ठीक नही मानता हूँ, तो कम से कम इससे, अपना अपराध तो स्वीकार कराना ही चाहिए।

विश्वामित्र, फिर अपना क्रोध प्रकट करते हुए कहने लगे—राजा! तूने 'अप्सराओं को छोड़ा, यह तेरा अपराध है। इस अपराध को स्वीकार' करने के बदले, तू उलटा मुझ पर ही दोषारोपण करता है, इससे प्रकट है कि तुझ मे अज्ञान है। तपस्वियो की बात मे बाधा देने का, तुझे कदापि अधिकार नही है, लेकिन तूने अज्ञानवश इसे अपना अधिकार मान रक्खा है। सूर्यवंश के सिहासन पर ऐसे अज्ञानी को बैठना उचित नहीं है, अत. तुझे अपना राज्य-भार दूसरे को दे देना ही ठीक है। अज्ञानी-मनुष्य राज्य करने के योग्य नहीं होता, इसलिए तू अपना राज्य किसी दूसरे को देदे।

हरिश्चन्द्र—महाराज! किसी दु'खी का दु ख मिटाना मेरा कर्तव्य है। मैंने कर्त्तव्य और करुणा की प्रेरणा से, उन अप्सराओं को बन्धन-मुक्त किया है। इसमे, मेरा नाममात्र को भी अपराध नहीं है और जब अपराध ही नहीं है, तब, मैं केवल आपको प्रसन्न करने के लिए, इस कार्य को अपराध नहीं मान सकता। आप, मेरा अपराध सिद्ध कीजिए, फिर यदि मैं अपराध स्वीकार करके दण्ड न लूँ, तो यह मेरा अज्ञान है, और उस समय मुझे राज्य-भार दूसरे के हाथो में सौंप देना ही उचित है। मैं क्षत्रिय हूँ। निर्बल और दु खियो की रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य का पालन ही यदि अज्ञान कहा जायगा, तो ज्ञान किसे कहेंगे?

यह मेरी समझ मे नहीं आता। किसी दुःख मे पड़े हुए को, दुःख-मुक्त करने मे, कायर और निर्दयी तो चाहे अज्ञान कहें, परन्तु दयावान और वीर तो उसे ज्ञान ही मानेंगे, तथा मौका पड़ने पर स्वयं भी उसे दुःख-मुक्त करने की चेष्टा करेंगे। आपकी दृष्टि मे, यदि अप्सराओं को छोड़ देना अज्ञान और अपराध है, तो आप पञ्चों द्वारा इसका निर्णय करा लीजिए। यदि पञ्चों ने भी आपकी बात का समर्थन किया, तो मैं दण्ड का पात्र हूँ और साथ ही राजा-पद के भी अयोग्य हूँ। उचित तो यह था, कि मेरे अप्सराओं के बन्धनमुक्त करने के कार्य से आप यह विचार कर प्रसन्न होते, कि हमने क्रोध करके उन्हें बांध दिया था और राजा ने अपना राजधर्म पालते हुए उन्हें छोड़ दिया, तो यह अच्छा ही किया। लेकिन, इसकी जगह आप मुझे दोषी ठहराते हैं और मेरा अज्ञान बताते हैं। आपको, इसी पर से विचार लेना चाहिए था, कि यदि अप्सराओं को छोड़ा जाना राज-धर्म के विरुद्ध होता, तो जो अप्सराएँ आपके तप-बल से बँधी थीं, वे खुलती ही कैसे? महाराज, शान्तिपूर्वक विचार कीजिये और क्रोध को दूर कीजिये, तो आपको मेरा यह कार्य अनुचित न जँचेगा।

दुराग्रही-मनुष्य, उचित-अनुचित और न्याय-अन्याय को नहीं देखता। वह तो, येन-केन प्रकारेण, अपनी हठ को ही पूरा करना चहता है। इसी के अनुसार, यहाँ पर विश्वामित्र, राजा से अपराध स्वीकार करने की निन्द्य-हठ पकड़े हुए है, लेकिन राजा कह रहा है, कि मैं केवल आपको प्रसन्न करने के लिए दा।ि झूठ नहीं बोल सकता। विश्वामित्र विचारते है, कि यदि

में संतोष करता हूँ और राजा को किसी प्रकार भी नीचा नहीं दिखाता, तो यह मेरा और भी अपमान होगा। यदि राजा के कथनानुसार इस मामले का निर्णय मध्यस्थ लोगों से कराता हूँ, तो वे लोग निश्चय ही मेरे पक्ष को झूठा बतलावेंगे। दण्ड देने के लिए, आश्रम से यहाँ आने की एक भूल तो की ही है, अब यदि पञ्चों से न्याय कराता हूँ, तो यह दूसरी भूल होगी। राजा, इस प्रकार तो अपना अपराध स्वीकार करता नहीं है, इसलिए किसी दूसरे उपाय से इसे बाध्य करना चाहिए, जिससे यह अपना अपराध स्वीकार करले। इस प्रकार विचार करके विश्वामित्र कपट-भरी प्रसन्नता दिखाते हुए बोले—हाँ तो तूने राज-धर्म का पालन करते हुए उन अप्सराओं को छोड़ा है, क्यों?

राजा—हाँ महाराज! उन्हें दुःख-मुक्त करने के सिवा, मेरा और कोई अभिप्राय न था।

विश्वामित्र—ठीक है, लेकिन इसी प्रकार सब बातों में राज-धर्म का पालन करेगा न?

हरिश्चंद्र—अवश्य। यदि मैं किसी स्थान पर राज-धर्म के पालन में असमर्थ रहूँ, तो फिर राजा कैसा?

विश्वामित्र—राज-धर्म में दान करना भी है। राजा से की गई याचना खाली नहीं जाती, इस बात को तू जानता है?

हरि०—जानता ही नहीं हूँ, बल्कि पालन भी करता हूँ।

विश्वामित्र—अच्छा, हम याचक हैं, हमारी याचना पूरी करेगा?

हरि०—आप याचना कीजिये, मैं उसे पूरी करने में जब असमर्थ रहूँ, तब कहियेगा।

विश्वामित्र—मै, तुझसे ससागर पृथ्वी और तेरे राज-वैभव की याचना करता हूँ।

विश्वामित्र की बात सुनकर, हरिश्चंद्र के चेहरे पर मल भी न आया। उन्होंने उसी प्रकार प्रसन्न-मन से कहा, कि राज्य क्या, यदि आप इस शरीर को भी मागते, तो यह भी आपकी सेवा मे अर्पण करता। राज्य मागकर तो आपने मेरे सिर का बोझा लिया है, इसके देने मे मुझे क्या आपत्ति हो सकती है?

हरिश्चंद्र ने,सेवक को पृथ्वी का पिण्ड * और जल की झारी लाने की आज्ञा दी।
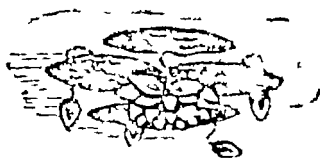
*—पृथ्वी दान में, मिट्टी का पिण्ट दान करने की प्रथा थी। सको देते समय, जितनी पृथ्वी देनी होती, उतनी का उच्चारण कर दिया ता था।—सम्पादक।

जिसे दान की वीरता चढ़ती है, उसे अपने भविष्य के कष्ट की चिंता नहीं होती, न वह किन्हीं और बातों को ही विचारता है। यद्यपि भविष्य का विचार, तो वीर लोग भी करते हैं, लेकिन वे भविष्य के कष्टों का अनुमान करके अपने निश्चय से विचलित नहीं होते।

राजा को, निर्भयता-पूर्वक पृथ्वी-पिण्ड और जल की झारी मँगाते देख, विश्वामित्र चकराये। उन्होंने विचारा था, कि राज्य देने में इसे संकोच होगा, तब मैं इससे कहूँगा, कि यहाँ तो राज-धर्म नहीं पाल सकता, फिर मेरी बाँधी हुई अप्सराओं को छोड़ने के समय राज-धर्म कैसे पाला था? और उस समय विचार क्यों नहीं हुआ था, जो अब विचार होता है? इस युक्ति से इसे बाध्य कर अप्सराओं के छोड़ने का अपराध स्वीकार करा लूँगा। बस, मेरी बात रह जायगी। लेकिन, राजा को राज्य देने के समय भी निःसङ्कोच देख विश्वामित्र विचारने लगे, कि अब क्या करना चाहिए! मुझे राज्य माँगने में तो कुछ संकोच भी हुआ, परंतु इसे देने में कुछ भी सङ्कोच नहीं हो रहा है। जिस राज्य को, इसके पूर्वजों ने आत्म-बलिदान देकर सुरक्षित रखा है, वह राज्य, यह एक क्षण में बिना किसी विचार के मुझे देने को तैयार है! इसे, बड़ा ही अहङ्कार है, लेकिन देखता हूँ कि इसका यह अहङ्कार कब तक रहेगा।

दुराग्रही मनुष्य, दूसरे के सत्य और कर्त्तव्य-पालन को भी अहङ्कार समझता है। उसे इस बात का विचार नहीं होता, कि झूठी हठ सिद्ध करने के लिए इस प्रकार उपाय करना मेरा है, या इसका सत्य पालन करना अहङ्कार है।

पृथ्वी का पिण्ड और जल की झारी आजाने पर, राजा ने पृथ्वी-पिण्ड हाथ मे लेकर, विश्वामित्र से कहा—महाराज, लीजिये।

विश्वामित्र—राजा, जरा सोच-विचार कर राज्य दान कर। ससागर पृथ्वी देदेने के पश्चात् राजा के पास क्या बच रहता है, इसे अच्छी तरह विचार ले।

हरिश्चन्द्र—महाराज, विचारने का काम तो तब था, जब मैं राज्य को किसी बुरे कार्य मे देता होता। मैं, राज्य को दान मे दे रहा हूँ, और वह भी आप ऐसे ऋषि को। फिर इसमें विचारना क्या है?

विश्वामित्र—राज्य के छूट जाने पर राजा की क्या दशा होती है, इसका विचार करले। तू हठवश अपना अपराध स्वीकार न करके, राज्य दे रहा है, यह तेरा अज्ञान नहीं तो क्या है?

राजा को इस प्रकार सारा राज्य दान में देने के लिए तत्पर देख, प्रधान, विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र के बीच में खड़ा हो, हरिश्चन्द्र से कहने लगा—महाराज, आप बात ही बात मे यह क्या कर रहे हैं? बिना किसी बात का विचार किये, बिना किसी से सम्मति लिये, अकेले ही राज्य कैसे दे रहे हैं? कोई कार्य एक दम न कर डालना चाहिये। किसी कवि ने कहा है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्॥

अर्थात—हठात किसी काम को न कर डालना चाहिए। बिना विचारे काम करने से, बड़ी भारी विपत्ति की सम्भावना रहती है।

आप यह तो विचारिये कि न-कुछ बात के लिए, सारा-राज्य विश्वामित्र ऐसे क्रोधी-ऋषि के हाथ मे सौपने से, राज्य की क्या दुर्दशा होगी और प्रजा को कितना कष्ट होगा ? बात तो, अप्सराओ को छोड़ने का अपराध स्वीकार करने भर की है और संभव है, कि अपराध स्वीकार करने पर क्षमा मॉगनी पड़े। इस जरासी बात के लिए, राज्य दे देना दूरदर्शिता कैसे कही जा सकती है ?

प्रधान का यह उपदेश सुनकर, विश्वामित्र के हृदय में इस विचार से प्रसन्नता की एक झलक दौड़ गई, कि यदि प्रधान के कहने से हरिश्चन्द्र मान जाय और अपना अपराध स्वीकार करले, तो यह सब झगड़ा ही मिट जाय। लेकिन, विश्वामित्र की यह प्रसन्नता अधिक देर तक न रही, हरिश्चन्द्र का उत्तर सुनते ही, वह क्रोध-पूर्ण-निराशा मे परिणत हो गई।

हरिश्चन्द्र, अपने प्रधान से कहने लगे—प्रधान, शुभ-काय मे सहायता देना तुम्हारा कर्तव्य है, बाधा देना नही। तुम जरा किसी विद्वान् के इस उपदेश पर तो विचार करो—

धनानि जीवित चैव, परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते वरं त्यागो, विनाशे नियते सति ॥

अर्थात्—बुद्धिमान मनुष्य, अपने धन और प्राण को, पराये के लाभ के लिए त्याग देते है। क्योकि इनका नाश तो कभी होगा ही, इसलिए परोपकार मे ही इनका त्याग करना श्रेष्ठ है।

मैं, राज्य को यदि जुए पर लगाता होऊॅ, या किसी और र्य मे देता होऊॅ, तो तुम्हारा यह कहना ठीक भी है, परन्तु उसे दान कर रहा हूॅ। तुम्हारी दृष्टि में राज्य एक महान्-

वस्तु है, और धर्म एक तुच्छ-वस्तु है, परन्तु मेरी दृष्टि से राज्य तुच्छ और धर्म महान् है। मैं, धर्म पालन के लिए इस राज्य को दान में दे रहा हूँ। राज्य को दान मे देने का मुझे अधिकार है, इसमें किसी की सम्मति की आवश्यकता नहीं। दान मे, राज्य देने मे मेरे पूर्वजो की कीर्ति दिग्दिगन्त मे फैलेगी, कि सूर्यवश ही एक ऐसा है, जिसने राज्य तक दान में दे दिया। इस राज्य-दान मे, सूर्यवंश के गौरव की वृद्धि होगी। किसी कवि ने कहा है—

सजातो येन जातेन याति वशः समुन्नतिम्।
परिवर्त्तिनि ससारे मृतः को वा न जायते॥

अर्थात्—इस परिवर्तनशील संसार मे, मरकर सभी जन्म लेते हैं, परन्तु जन्म लेना उसी का सार्थक है, जिसके जन्म से वंश की गौरव-वृद्धि हो।

प्रधान! मै हठ मे पडकर राज्य नहीं दे रहा हूँ, वल्कि ये याचक बनकर माँग रहे हैं, तब दे रहा हूँ। मैं, राज्य देने की बात कह चुका हूँ, अत. तुम्हारा कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है। मैं, अब अपने निश्चय पर से नहीं टल सकता। देखो किसी कवि ने कहा है.—

विदुषा वदना द्वाचः सहसा यान्ति नो बहिः।
याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदाना रदा इव॥

अर्थात्—विद्वान-मनुष्य के मुँह मे महसा कोई बात नहीं निकलती और यदि निकली, तो उसी प्रकार फिर नहीं लौटती, जैसे हाथी के दाँत बाहर निकलने के पश्चात् फिर भीतर नहीं जाते।

अब, यदि अपराध स्वीकर करने का कहो, तो मैं झूठ तो किसी समय और किसी भी अवस्था मे नही बोल सकता। रही प्रजा की बात, सो यदि प्रजा मे शक्ति होगी, तो वह विश्वामित्र को अपने अनुकूल बना लेगी। प्रजा से विरोध करके राजा एक पल भी नही ठहर सकता, न ऐसे राजा को प्रजा ठहरने ही दे सकती है। इसलिए इस विषय मे भी कोई विचारणीय बात नही है।

प्रधानजी! मै, राज्य विश्वामित्र ऋषि को दे रहा हूँ, किसी दूसरे की तो राज्य मॉगने की हिम्मत ही नही पड़ सकती। ये, अपना राज्य छोडकर आये है, अत राजकार्य से भिज्ञ हैं। यही कारण है, कि इन्होने मुझ से राज्य मॉगा है। राज्य देने मे मेरी कोई हानि नहीं है, हानि तो इनकी है जो ये राजर्षि पद छोड़कर फिर राज्य करना चाहते है। इस राज्य के देने-लेने में, बहुत बड़ा रहस्य है, जो अभी अप्रकट है। यदि ऐसा न होता, तो ये राजर्षि, जिन्होने स्वयं अपने राज-पाट को छोड़ दिया है, फिर राज्य करने की इच्छा क्यो करते? ऐसे बड़े आदमी की राज्य करने की इच्छा हुई, तो समझना चाहिए कि इसमे कोई भेद है। प्रधान, राज्य देने मे, अपनी किंचित भी हानि नही है, बल्कि लाभ ही है। लाभ क्या है, यह आगे चलकर प्रकट होगा। धर्म और सत्य पर विश्वास रखो, और इस श्रेष्ठ कार्य मे विघ्न मत डालो।

राजा की बात सुनकर प्रधान तो बैठ गया, परन्तु विश्वामित्र विचारने लगे, कि इस राजा ने तो मुझे राजर्षि-पद से भी गिराने का विचार किया है। यह, अपना राज्य देकर, मुझे त्यागी से भोगी बना रहा है। मैंने राज्य मॉगकर अच्छा नही किया, और अब नही लेता हूँ, तो राजा की पहली बात सत्य होती है

कि मैंने अप्सराओं को दया और राज-धर्म से छोड़ा। मुझे तो इसका घमण्ड दूर करना है। इसके करने मे मेरा राजर्षि-पद जाता है तो चाहे जाय, परन्तु अपनी बात न जाने दूँगा और न इसमें घमण्ड ही रहने दूँगा। यह, राज्य तो दे ही रहा है, मैं इससे राज्य ले लूँ और फिर दूसरे दानादिक मे फँसा लूँ, तब इसकी बुद्धि ठिकाने आवेगी। फिर तो एक बार ही नहीं बल्कि दस बार यह अपना अपराध स्वीकार करेगा। ऐसे, इसका घमण्ड न जायगा।

विश्वामित्र, यहाँ आकर न्याय माँगने और फिर राज्य माँगने आदि बातों पर मन-ही-मन पश्चात्ताप तो करते हैं, परन्तु अपना दुराग्रह छोड़ने को तैयार नहीं है। ऐसा करने मे, वे अपना अपमान समझते है। इसी वास्ते, अपना राजर्षि-पद खोकर भी, राजा से अपनी इच्छानुसार अपराध स्वीकार कराना चाहते है। वे, अपनी हानि करके, राजर्षि-पद से भ्रष्ट होकर भी राजा को नीचा दिखाने के इच्छुक हैं। किसी कवि ने सत्य कहा है—

साईं सन अरु दुष्ट जन, इनको यही स्वभाव।
खाल खिंचावे आपनी, पर बन्धन के दांव॥
पर बन्धन के दांव खाल अपनी खिंचवावें।
मूड काट के फंद तऊ वे बाज न आवें॥
कह गिरधर कविराय जरै आपनी कटाई।
जल में परि सरि गये, तऊ छांडी न खुटाई॥

आज भी बहुत से लोग, दूसरों को फँसाने के लिए, उन्हें, सजा दिलाने के लिए, आप स्वयं पिटते, जेल जाते और कष्ट भोगते सुने जाते हैं। यह, दुष्टों का स्वभाविक लक्षण है, कि वे स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों को कष्ट दे। इसी के अनुसार यहाँ

हरिश्चन्द्र को अपमानित करने के लिए विश्वामित्र, अपने राजर्षि पद को भी छोड़ देने को तैयार हुए हैं। इस समय उन्हें राजर्षि पद की उतनी अपेक्षा नहीं है, जितनी अपेक्षा राजा को कष्ट में डालने की है। विश्वामित्र ने, हरिश्चंद्र से कहा—देख राजा, अच्छी तरह विचार ले। पीछे से पश्चात्ताप करने से कोई लाभ न होगा। अविवेक-पूर्वक, शीघ्रता में आकर जो कार्य किया जाता है, उसका दु:ख जीवन-भर नहीं भूलता। इसलिए किसी कवि ने कहा है—

गुणवदगुणवद्वा कुवता कार्यमादौ
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृताना कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्य तुल्यो विपाकः॥

अर्थात्—कोई काम, कैसा ही अच्छा या बुरा क्यों न हो काम करनेवाले बुद्धिमान को, पहले उसके परिणाम का विचार करके काम में हाथ लगाना चाहिए। क्योंकि, बिना विचारे अति शीघ्रता से किये हुए काम का फल, मरणकाल तक हृदय को जलाता और काँटे की तरह खटकता रहता है।

हरिश्चंद्र—महाराज पश्चाताप तो बुरा काम करके हुआ करता है, सद्कार्य में किस बात का पश्चाताप? धन और राज्य ये सब परिवर्त्तनशील हैं, इनकी स्थिति सदा एक-सी नहीं रहती किसी कवि ने कहा है:—

दान, भोग अरु नाश, तीन होत गति द्रव्य की।
नाहिन द्वै को वास, तहां तीसरो वसत है॥

अर्थात्—धन की दान, भोग और नाश ये तीन गतियें हैं।

जो अपने धन को न दान मे लगाता है, न भोग मे, उसके धन की तीसरी गति नाश अवश्य होती है।

महाराज, यदि यह राज्य किसी सुकृत्य मे लग जाय, तो प्रसन्नता की बात है, इसमे पश्चाताप की कौनसी बात है ? मैं, आपको प्रसन्न मन मे ससागर पृथ्वी और राज-पाट देता हूँ, आप लीजिये।

विश्वामित्र ने जब देखा, कि यह अपने निश्चय पर दृढ है, तब क्रोधित होकर बोले—देखता हूँ, तू कैसा दानी है ! अच्छा ला !

हरिश्चंद्र ने पृथ्वी का पिण्ड, विश्वामित्र के हाथ मे देते हुए कहा–'इदं न मम'। अर्थात्—अब यह पृथ्वी मेरी नहीं है। मैं अपनी सत्ता उठाकर विश्वामित्र-ऋषि की सत्ता स्थापित करता हूँ। विश्वामित्र-ने, राजा से पृथ्वी का पिण्ड पाकर आशीर्वाद दिया—स्वस्तिं भव। अर्थात् तेरा कल्याण हो।

पृथ्वी का पिण्ड लेकर, विश्वामित्र ने विचार किया, कि अब इस राज्य में तो इसका कुछ रहा नहीं है, इसलिए इसे किसी और बात मे फँसा लूँ, तब मनोरथ सिद्ध हो। उन्होंने हरिश्चन्द्र से कहा–राजा ! तूने जैसा दान दिया है, वैसा दान आजतक किसी दूसरे ने नहीं दिया। लेकिन दान के पश्चात्, दक्षिणा का दिया जाना आवश्यक है। बिना दक्षिणा के दान नहीं होता। जितना बडा दान तूने दिया है, उसी अनुमान से दक्षिणा भी होनी चाहिए।

हरिश्चन्द्र–हाँ महाराज, दक्षिणा भी लीजिये। प्रधान ! कोष मे से एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा ला दो।

कई दॉव हारे हुए जुआरी को, एक दॉव जीत जाने पर जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता विश्वामित्र को हरिश्चन्द्र की यह बात सुनकर हुई। वे, मन-ही-मन कहने लगे, कि अब यह अच्छा फँसा है। अब इसकी बुद्धि ठिकाने लाये देता हूँ। वे, जिस क्रोध को, कारण न मिलने से अच्छी तरह प्रकट न कर सके थे, उस क्रोध को प्रकट करने के लिए उन्हे अब कारण मिल गया। वे, क्रोध प्रकट करते हुए कहने लगे—तूने मुझे राज-पाट दान मे दिया है, या मेरा उपहास कर रहा है?

हरिश्चन्द्र—क्यो महाराज?

विश्वामित्र—जब तूने राज-पाट मुझे दान मे दे दिया, त फिर कोप पर तेरा क्या अधिकार रहा, जो तू उसमें से दक्षिण देने के लिए स्वर्ण-मुद्रा मॅगा रहा है? राज्य या उसके वैभव प अब तेरा क्या अधिकार है? तू, केवल अपने शरीर और स्त्री पुत्र का स्वामी है। तुझ पर, या तेरे स्त्री पुत्र पर कोई आभूष है, तो वह भी मेरा है। ऐसी अवस्था मे क्या मेरा ही धन मु दक्षिण में देता है? मै, इसीलिए कहता था, कि तू सूर्यवंश उत्पन्न तो हुआ, परन्तु तुझमे अज्ञान है। पहले तो तूने अप्स राओ को छोडने और फिर हठ करके अपना अपराध न मान की अज्ञानता की, फिर अपनी दानवीरता दिखाने के लिए राज देने की अज्ञानता की, और अब दिये हुए दान मे से ही लेक दक्षिणा देने की अज्ञानता करना चाहता है? मुझे तेरी इस अज्ञ नता पर दया आती है, इसलिए तुझ से फिर कहता हूँ, कि अप ...य स्वीकार कर ले, अन्यथा तुझे बड़े-बड़े कष्टो का साम ...। होगा।

विश्वामित्र की यह बात सुनकर, हरिश्चन्द्र पश्चात्ताप करने लगे, कि वास्तव मे अब कोष पर मेरा क्या अधिकार है, जो मैं उसमें से स्वर्ण-मुद्रा दे सकूँ। उन्होने विश्वामित्र से कहा—महाराज, यह भूल तो मुझसे अवश्य हुई, मै इसके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। अब रही दक्षिणा की बात, सो मैंने एक हजार स्वर्ण-मुद्रा दक्षिणा देने के लिए कहा है, इन स्वर्ण-मुद्राओ का मुझ पर आपका ऋण है। मैं, किसी दूसरे उपाय मे आपका यह ऋण चुका दूंगा।

हरिश्चन्द्र को, इस प्रकार नम्र देख, विश्वामित्र को यह आशा हुई, कि संभवत अब समझाने बुझाने पर यह अपना अपराध स्वीकार करले। यदि यह अपराध स्वीकार करले, तो मै राज्य के झंझट से भी बच जाऊँ, और मेरा राजर्षि-पद भी बना रहे। उन्होने, हरिश्चन्द्र से कहा—राजा! इस बात का तो विचार कर, कि इतनी स्वर्ण-मुद्रा तुझे प्राप्त कहाँ से होगी! क्या इनके लिए भीख माँगेगा? यदि भीख भी माँगना चाहेगा, तो कहाँ मांगेगा? मै तो तुझे अपने राज्य मे रहने भी न दूँगा।

हरिश्चन्द्र—महाराज! इक्ष्वाकुवंशी देना जानते हैं, मांगना नही जानते।

विश्वामित्र—फिर क्या करेगा जो मुहरे मिलेंगी?

हरिश्चन्द्र—यदि आप इसी समय मुहरें चाहते हो, तो इस समय तो मेरे पास सिवा मेरे शरीर के, और कुछ नही है। यदि आप मेरे शरीर से किसी प्रकार अपना यह ऋण वसूल कर सकते हों, तो मैं इसके लिए सहर्ष तैयार हूँ। अन्यथा, मेरे पूर्वजो ने, काशी-क्षेत्र को राज्य से इसीलिए पृथक् रख छोड़ा है, कि

वृद्धावस्था मे राज्य-त्याग के पश्चात् वहाँ स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवन व्यतीत कर सके। यदि, आपने पूर्वजो की इस नीति का उल्लंघन न किया और काशी क्षेत्र को पूर्ववत् राज्य से पृथक् ही रखा, तो मै वहाँ कोई उद्योग करके, आपको एक मास मे एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा चुका दूँगा। मैने एक सहस्र स्वर्णमुद्रा देने का वचन दिया है, इसलिए इसे चुकाने के लिए मुझे अवकाश मिलना उचित है। आप राजनीतिज्ञ है, अत मेरा विश्वास है, कि आप मुझे इसके लिये अवकाश देंगे, साथ ही, काशीक्षेत्र को राज्य से पृथक् रखने की पूर्वजो की नीति का पालन भी अवश्यमेव करेंगे।

विश्वामित्र विचारते है, कि यदि मै काशी-क्षेत्र पर अपना अधिकार करता हूँ, तो यह कार्य राज-धर्म से विरुद्ध होगा। इस के सिवा, यदि राजा को एक सहस्र स्वर्णमुद्रा देने के लिए अव-काश नहीं देता हूँ, तो नीति भी भङ्ग करता हूँ और संसार में अपयश भी होता है। यह सोचकर, वे राजा से फिर कहने लगे—राजा, अब भी समझ जा। एक सहस्र स्वर्णमुद्रा, तेरे लिए काशी मे कहीं गडी नहीं हैं, जो तू निकालकर ला देगा। उद्योग से, एक मास मे एक-सहस्र स्वर्णमुद्रा प्राप्त कर लेना कठिन कार्य है। इसलिए मैं तुझे फिर समझाता हूँ, कि अपना अपराध मानले, जिसमे तेरा राज्य भी तेरे पास बना रहे और घर छोड़कर कष्टमें भी न पडना पड़े। अपनी हठ का छोड़ दे। तेरी यह हठ तुझे खराब कर डालेगी।

हरिश्चन्द्र—महाराज, मेरी तो कोई हठ नहीं है। हठ तो [illegible] है। आपही बताइये, कि कष्ट के भय तथा राज्य के लोभ में सत्य का लोप करके झूठ बोलूँ और जो कार्य अपराध

नहीं है, उसे अपराध मानूँ, यह कैसे हो सकता है ? ऐसा करना धर्म कैसे कहा जा सकता है ? इस राज्य को, आज तक कोई अपने साथ न ले जा सका, और न मै ही इसे अपने साथ लेजाने में समर्थ हूँ । इसके उपयोग का यह सुअवसर फिर कब मिलेगा, कि आप ऐसे ऋषि को मैं इसे दान मे दूँ और अपने ऊपर एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राओ का ऋण लूँ ? आपकी कृपा से, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होगा, बल्कि इस ऋण की चिन्ता से मैं उद्योगी बन जाऊँगा। रही, इतनी स्वर्णमुद्राएँ एक मास मे कहाँ से आवेंगी, यह बात; लेकिन, उद्योगी के समीप कोई भी कार्य किसी भी समय कठिन नहीं है, मैंने तो एक मास का अवकाश माँगा है।

विश्वामित्र—अच्छा, तू अपनी हठ को मत छोड़ और देख, कि तुझे किन-किन कष्टों मे पडना पडता है। तेरे लिए, अवधपति महाराजा विश्वामित्र आज्ञा देते हैं, कि तू अपनी स्त्री और पुत्र के साथ, आज ही इस नगर का त्याग करदे। अपने साथ, तुझे एक भी पैसे के मूल्य की वस्तु ले जाने का अधिकार नहीं है। दक्षिणा के विषय मे भी, मै अपना निर्णय सुनाये देता हूँ, कि तू एक मास के भीतर एक सहस्र स्वर्णमुद्रा दे देना। एक मास से, एक दिन भी अधिक देर करने का तुझे अधिकार नहीं है। यदि तीस दिन की जगह, इकतीसवाँ दिन भी हुआ, और तूने एक सहस्र स्वर्णमुद्राएँ न दीं, तो मैं अपने श्राप से तुझे कुल सहित भस्म कर दूँगा। तुझे, यह बतलाने की तो आवश्यकता नहीं है, कि तपस्वी का श्राप कदापि मिथ्या नहीं होता।

विश्वामित्र की बात सुन, हरिश्चन्द्र मुस्कराये और कहने

लगे, कि आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। मैं, अब आपकी आज्ञा पालने के लिए जाता हूँ, और आपसे यह एक प्रार्थना करता हूँ, कि अवध-राज्य की प्रजा ने अब तक जिस आनन्द से दिन व्यतीत किये हैं, आप भी उसे वही आनन्द प्रदान करेंगे और उसी नीति का अनुसरण करेंगे, जिसमें प्रजा सुखी रहे। प्रजा की बुद्धि अल्प होती है, इससे वह राजा के आश्रित है। राजा, उसके पितृवत् है, और सदैव उसके पालन की चिन्ता करते हैं। प्रजा से अपराध होना स्वाभाविक है, इसलिए आप उसपर दया करके इसप्रकार क्रोध न करें और न बात-बात में उसे भस्म ही करने लगें। अन्यथा बनी बनाई प्रजा बिगड़ जायगी।

राजा की इस बात को सुनते-सुनते तो, विश्वामित्र की क्रोधाग्नि भभक उठी। वे कहने लगे—क्या तू हमें राज्य करना सिखलाता है? हम में इतना भी ज्ञान नहीं है, जो तेरे को सिखलाने की आवश्यकता हुई? जिनके बनाये हुए नियमों के अनुसार तूने अब तक राज्य किया है, आज उन्हीं को सिखने के लिए तैयार हुआ है? जानता नहीं है, कि अब यह राज्य विश्वामित्र का है? यदि, विश्वामित्र पुरानी ही प्रथा पर स्थिर रहे, तो फिर विश्वामित्र क्या! तुझे, अब राज्य या प्रजा की चिन्ता करने और उस विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, हमारी जो इच्छा होगी, वह करेंगे। सभासद्गण! तुम लोग आज जाओ और कल आओ। अबतक के सब नियम कल बदल दिये और उनके स्थान पर, महाराजा विश्वामित्र नये नियम करेंगे।

विश्वामित्र की बातों से, सभासद् पहले से ही क्रुद्ध हो रहे थे,

अतः यह बात उन्हे और भी असह्य हो उठी। वे, विचार करने लगे, कि ये अभी तो भिखारी थे, अभी ही राज्य मिला है, राज्य देनेवाला भी अभी यही मौजूद है, इतनी ही देर मे इनकी यह दशा है, तो आगे क्या होगा? अपने दाता की उपस्थिति मे भी जब इन्हे कुछ कहते हुए लज्जा बोध नही होती, तो आगे इन्हे किसकी शङ्का होगी? यह विचारकर उन्होने निर्भयता-पूर्वक विश्वामित्र को उत्तर दिया, कि आप पुराने नियमो की जगह नये नियम किस पर प्रचलित करना चाहते हैं? आपके नियम मानेगा कौन? आप शासन किस पर करेगे? यह सभा और यह प्रजा तभी तक है, जब तक महाराजा हरिश्चन्द्र यहाँ पर हैं। इनके यहाँ से जाते ही, न सभा रहेगी, न प्रजा ही। हम लोग, देश-विदेश जाकर कष्ट चाहे सहे; परन्तु आप ऐसे अन्यायी के राज्य मे कदापि न रहेगे। जिसने, अपने राज्य देनेवाले दाता के साथ इस कठोरता का व्यवहार किया है, वह हमारे साथ कब अच्छा व्यवहार करेगा? हमलोग, उन्हीं महाराजा हरिश्चन्द्र की प्रजा हैं जिन्होने अपना राज्य देने में भी सङ्कोच न किया, तो हमें घर-बार आदि छोडने मे क्या सङ्कोच होगा? यदि, आप हम लोगों पर राज्य करना चाहते हैं, तो महाराजा हरिश्चन्द्र के बनाये हुए नियमो को उसी प्रकार रखिये, और महाराजा हरिश्चन्द्र को यहाँ से चले जाने की आपने जो आज्ञा दी है, उसे निवारण कीजिये। यह बात दूसरी है, कि महाराजा हरिश्चन्द्र के बनाये हुए नियमो मे यदि कोई दोष हो, तो उसे आप दूर करे, परन्तु उन नियमो को सर्वथा बदल कर, आप हम लोगो पर कदापि शासन नही कर सकते। जैसे ही

महाराजा हरिश्चन्द्र चले, वैसे ही हम लोग भी उन्हीं के साथ चले जावेंगे। वे, राज्य के भूखे नहीं है। आप, प्रसन्नता-पूर्वक राज्य कीजिये, परन्तु उन्हे यहाँ से चले जाने की आज्ञा न दीजिये। रही आपकी दक्षिणा की बात, सो एक हजार स्वर्ण-मुद्रा हम अपने पास से आपको दिये देते है। राज्य की संपत्ति तो हमारी सम्पत्ति हो सकती है और है भी, परन्तु हमारी सपत्ति पर राज्य का कोई अधिकार नहीं है। इसलिए, आप एक हजार स्वर्णमुद्रा हमसे लेकर, महाराजा हरिश्चन्द्र को ऋणमुक्त कीजिये और उन्हें यही रहने की आज्ञा दीजिये। उनके चलाये हुए नियमो मे जो खराबी हो, उन्हे मिटाने के सिवा और किसी प्रकार का परिवर्त्तन न करके, आप आनन्द-पूर्वक राज्य कीजिये। हमारे इस कथन के अनुसार कार्य करने पर तो हम लोग आपसे सहयोग कर सकते है, अन्यथा कदापि ऐसा न हो सकेगा।

आज के लोग, यदि उस समय सभासद् होते, तो सम्भवत विश्वामित्र की हॉ मे हॉ मिलाने के सिवा, उनके विरुद्ध बोलने की हिम्मत तक न करते। उन्हे तो अपने पद-रक्षा की चिन्ता रहती, सत्य या प्रजा का पक्ष उनसे कदापि न होता। वे, यह विचारते, कि हरिश्चन्द्र तो राज्य-च्युत हो चुके हैं, उनके स्थान पर ये राजा हुए है, इसलिए इन्हीं के कथन का समर्थन करने में हमारा लाभ है, हरिश्चन्द्र का पक्ष-समर्थन करने से नहीं। लेकिन उस समय के सभासद्, सत्य-प्रिय थे। सत्य के आगे, वे धन-संपत्ति और मान-प्रतिष्ठा को तृणवत् समझते थे! यही कारण है, कि उन्हे विश्वामित्र ऐसे क्रोधी और तपस्वी के कथन का विरोध करने मे भी भय नहीं हुआ।

विश्वामित्र ने, सभासदो की बाते सुन, अपनी क्रोध भरी आँखे दिखा कर उन्हे डराना चाहा, परन्तु वे सत्य की शक्ति से बलवान थे, इसलिए विश्वामित्र की आँखो से क्यो डरने लगे ? विश्वामित्र, उन लोगो से कहने लगे—दुष्टो ! तुमको पता नही है, कि मै कौन हूँ ? मेरे सामने तुम्हारी यह कहने की शक्ति ? देखो मैं तुमको इसका कैसा दण्ड देता हूँ, तभी तुम्हे मालूम होगा, कि विश्वामित्र की अवज्ञा करने का क्या फल होता है। तुम लोगों का कहना मानकर, जब मैं हरिश्चन्द्र को यही रहने दूँगा, तब मेरा राज्य क्या होगा ? इसके रहते हुए, मेरी स्वतंत्रता कैसे कायम रहेगी और मेरी आज्ञाओ का पूर्णतया पालन कैसे हो सकेगा ? हरिश्चन्द्र को, मैं यहाँ कदापि नहीं रहने दे सकता, न उसके समय के नियमो को ही रहने दे सकता हूँ।

सभासद—जब हम कह रहे है, कि महाराजा हरिश्चन्द्र राज्य के भूखे नही हैं, वे राज्य न करेंगे, वे तो केवल शान्ति से बैठे रहेंगे, और उनके ओर की दक्षिणा हम देते है, फिर आप उन्हे क्यों नहीं रहने देते ? इतना होते हुए भी आप उन्हें निकाल रहे हैं, तो इसका यही अर्थ है, कि आपको उन्हे कष्ट मे डालना अभीष्ट है और उनकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर, आप प्रजा को त्रास देना चाहते हैं। लेकिन आप ध्यान रखिए, कि आपकी यह आशा, दुराशामात्र है।

इस प्रकार, सभासदो के मुँह में जो कुछ आया, वह कहते हुए, वे क्रुद्ध होकर अपने-अपने घर चल दिये। विश्वामित्र, उनके इस व्यवहार से विचारने लगे, कि मेरे सामने किसी की बोलने तक की हिम्मत न पड़ती थी, परन्तु आज मेरी शक्ति कहाँ लुप्त

हो गई। ये लोग, सत्य के बल से सशक्त हैं, इसीसे मैं इनका कुछ नहीं कर सकता।

विश्वामित्र का, सभासदो पर तो कुछ प्रभाव पड़ा नहीं, तब वे हरिश्चन्द्र से ही क्रोधित होकर कहने लगे—कुटिल! तूने खूब जाल रचा है। राज्य देकर दानी भी बन गया, मुझे अपमानित भी किया और अब इस प्रकार दूसरो से विद्रोह करवाकर, पुन राज्य लेना चाहता है? यदि तुझे राज्य का इतना मोह था, तो तूने पहले दिया ही क्यो, जो अब इस प्रकार मुझे इन सभासदों से अपमानित करवा रहा है।

हरिश्चन्द्र—महाराज, आप दूसरे पर का क्रोध भी मुझ पर ही उतारेंगे? मै तो आपके समीप ही बैठा हूँ, कहीं गया भी नहीं जो इन्हे सिखाऊँ, ऐसी अवस्था मे मेरा क्या अपराध है? मैंने तो आप से पहले ही प्रार्थना की थी, कि आप शान्ति से काम लीजिये, परन्तु मेरी इस प्रार्थना पर आप और भी क्रुद्ध हो गये। अब मुझे आज्ञा दीजिये, और सन्तोष रखिये, मैं यथासम्भव प्रजा के विचारो को आपके अनुकूल बनाने का प्रयत्न करूँगा।

महाराजा हरिश्चन्द्र, महल की ओर विदा हुए। उधर विश्वामित्र मन ही मन विचारते है, कि क्या मैंने हरिश्चन्द्र को दण्ड दिया है? नहीं-नहीं, हरिश्चन्द्र से स्वयं मै ही दण्डित हुआ हूँ। मैंने, अपने ही मुँह हरिश्चन्द्र से दण्ड मॉगा है। मैंने अपनी स्वतन्त्रता, उसकी परतन्त्रता से बदल ली है। मेरे ईश्वर-भजन आदि कार्यों मे, राज्य की बाधा उत्पन्न हो गई है। मैंने, अपने पैर में स्वयं ही राज्य की उस बेड़ी को पहन लिया है, जिसे मैं बड़ी,

कठिनता से तुड़ा सका था। मेरी स्वतन्त्रता का तो उपभोग वह करेगा, जैसे उसे अप्सराओं को बन्धनमुक्त करने का फल मिला हो, और उसकी परतन्त्रता मैं भोगूँगा, जैसे मुझे उसपर अनुचित क्रोध करने का दण्ड मिला हो। हरिश्चन्द्र! वास्तव मे तू धन्य है, किन्तु मै भी सहज ही मे तुझे छुटकारा देकर अपना अपमान न होने दूँगा। जिस कार्य को प्रारम्भ किया है, उसका अन्त देखे विना पीछे न हटूँगा।
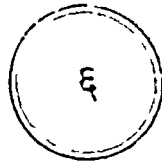
मिलन

—*—

विश्वामित्र के समीप से, महाराजा हरिश्चन्द्र महल की ओर विदा हुए। मार्ग मे, उनके मन मे जो तर्क-वितर्क होते जाते है, उनका वर्णन करना कठिन कार्य है। वे विचारते है, कि आज मुझे उस रानी के समीप जाना है, जिसने मुझसे कहा था, कि विना सोने की पूँछवाला मृग-शिशु लाये, मेरे महल मे मत आना। मैं, उसकी इच्छानुसार अब तक सोने की पूँछवाला मृगशिशु न ला सका और आज विना मृग-शिशु लाये ही उसके समीप जा रहा हूँ, तो क्या वह मेरा तिरस्कार करेगी? लेकिन ऐसा होना तो सम्भव नही। रानी, ऐसी निन्द्य-हठ करने वाली तो नहीं है, न उसे मेरा अपमान करना ही अभीष्ट है। यदि ऐसा होता, तो इतने समय मे उसका यह विचार अवश्य ही किसी न किसी रूप मे प्रकट होजाता। उसने, मेरा अपमान होने योग्य कोई बात अब तक नहीं की, इससे यही जान पडता है, कि उसने मुझको अपने मोह-पाश से मुक्त करने के लिए ही ऐसा किया है और मुझे ऐसा असम्भव र्य सभव कर बताने की शिक्षा दी है, जैसा असम्भव सोने की ला मृग-शिशु प्राप्त होना है। रानी! यदि मेरी कल्पनानुसार ही तेरा विचार है, तो मै तेरे समीप सोने की

पूँछवाला मृगशिशु ले कर ही आरहा हूँ। राज्य देना, कोई सरल कार्य नहीं है, लेकिन मैने तेरी सहायता से इसे सम्भव कर बताया है। क्या तू मेरे इस कार्य को, सोने की पूँछवाला मृगशिशु मान-कर सन्तोष करेगी ? मान या न मान, सत्कार कर या तिरस्कार, अब तो मैं तेरे समीप आता ही हूँ, लेकिन, क्या तू मेरे इस कार्य से सहमत होगी ? तू यह तो न कहेगी, कि आधे राज्य की स्वामिनी मै थी, आपने मेरे अधिकार का राज्य क्यो दे दिया ? यह तो न कहेगी, कि रोहित, जो राज्य का भावी स्वामी था, उसके अधिकार पर कुठाराघात क्यो किया ? यदि, तूने मेरे इस कार्य का विद्रोह किया, तो सारी प्रजा तेरा साथ देकर विद्रोह मचा देगी और इस प्रकार मेरा नाम कलङ्कित होगा, कि अपनी स्त्री को राज्य के लिये भड़काया। रानी ! अब तो तेरे पास आता ही हूँ, अभी मालूम हो जायगा, कि मेरी ये आशङ्काएँ ठीक है या निर्मूल। लेकिन, मै तुझे रानी क्यो कह रहा हूँ ? अब तो तू उस गरीब की स्त्री है, जिसके पास एक समय का भोजन भी नहीं है, न रहने को घर ही है। बल्कि, इस अवस्था मे भी जो एक-सहस्र स्वर्णमुद्रा का ऋणी है। तारा ! आज तू मुझे क्या कहेगी ? जो इच्छा हो, सो कह, मुझे सुनना ही होगा।

इस प्रकार, चिन्तासागर मे डुबकिये लगाते हुए हरिश्चन्द्र, रानी के महल मे आये। वहाँ पहुँचने पर, दासियो से मालूम हुआ, कि रानी इस समय समीप के उपवन में है। राजा, चुपचाप बाग मे गये और एक वृक्ष की ओट से रानी और रोहित का खेल देखने लगे। रानी, उस समय रोहित से विनोद कर रही थी और साथ ही साथ उसे शिक्षा भी देती जाती थी। वे, रोहित से पूछ

रही है-बेटा, तू कौन है ? किस वंश का है ? आदि। बालक रोहित, माता के इन प्रश्नो का क्या उत्तर देता ? वह चुपचाप माता के मुँह की ओर देखने लगा। पुत्र को, इस प्रकार अपनी तरफ देखते देख, रानी कहने लगी—वत्स ! तू वीर बालक है और वीर-वंश का है। अच्छा, तू यह तो बता कि तू मेरा पुत्र है, या तेरे पिता का ? बालक इसका भी क्या उत्तर देता ? तब रानी ही कहने लगी—बेटा ! माता का काम तो केवल जन्म देकर पालन करने का ही है, परन्तु शक्तिदाता तो पिता ही है। मै, जो तेरी माता हूँ, वह भी तेरे पिता की सेविका है। इसलिए, सदैव पिता की आज्ञा का पालन करना, कभी उल्लंघन मत करना और न कभी हृदय मे भय या कायरता लाना।

बालक के हृदय पर, माता की शिक्षा का जो प्रभाव पड़ता है, वह स्थायी होता है। जिन शिक्षाओ को, शिक्षकगण एक विशेष-समय मे भी बालक के हृदयस्थ नही करा सकते, उन्ही शिक्षाओ को, माता सहज मे ही अपने पुत्र के हृदयस्थ करा सकती है। माता की दी हुई शिक्षा का प्रभाव ऐसा होता है, कि यदि माता चाहे, तो अपने बालक को वीर बनावे या कायर, मूर्ख बनावे या विद्वान, और सच्चरित्र बनावे या दुश्चरित्र। माता के लाड़-प्यार के समय मे ही नही, बल्कि माता के गर्भ मे रहते समय से ही, बालक शिक्षा प्राप्त करने लगता है। यूरोप के, अद्वितीय-वीर नैपोलियनबोनापार्ट के लिए, इतिहासकार कहते हैं, कि उसकी ने नैपोलियन के गर्भ मे आते ही यह भावना की थी, कि लड़का समस्त-यूरोप को विजय करने वाला हो। इसके लिए संग्राम मे जाकर संग्राम देखती, घोड़े पर चढ़ कर अकेली

वन में जाती, श्मशानो मे जाकर खड़ी रहती और इस प्रकार अपने गर्भस्थ-बालक को निर्भयता की शिक्षा देती। उसकी इस शिक्षा से बालक भी ऐसा वीर हुआ, कि जिसने सारे यूरोप पर अपनी विजय-पताका फहरा दी। शिवाजी की माता ने, रामायण और महाभारत की कथा सुनाकर, अपने बालक को वीरता की ऐसी शिक्षा दी, कि वही बालक आगे चलकर एक बड़े देश का राजा और हिन्दू-धर्म का रक्षक हुआ। सारांश यह, कि मातृ-शिक्षा का बालक के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिनकी माता ही ऐसी कायर हैं, कि पत्ता हिलने से भूत का भय करती हैं, और सभ्यता, उदारता, नम्रता आदि का भी ज्ञान नही रखतीं उनके बालक इन सद्गुणों की शिक्षा कहाँ से पा सकते हैं? और ऐसी अवस्था मे यदि बालक कायर, अशिष्ट तथा मूर्ख हो, तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? अस्तु।

रानी की बातो को सुन, राजा की आशङ्काएँ बहुत कुछ मिट गईं। वे मन ही मन कहने लगे—रानी! तुझे अभी यह नही मालूम है, कि मैंने तुझे कंगाल बना दिया है और जिस पुत्र से तू विनोद कर रही है, उसके भविष्य का कुछ भी ध्यान नही रक्खा है। देखूँगा, राज्य देने का समाचार सुनकर तू क्या कहती है; परन्तु प्रश्न तो यह है, कि इस समाचार को, मैं तेरे सम्मुख कहूँगा किस हृदय से?

राजा इस प्रकार विचार ही रहे हैं, कि इतने ही मे रानी की दृष्टि राजा पर पड़ी। पति को, इस प्रकार छिप कर देखते देख यह विचार कर कि इन्हें कहीं फिर मेरा मोह न घेर ले—रानी ने रोहित को सम्बोधन करते हुए कहा—बेटा, चलो चले। तुम्हारे खेलने के लिए

सोने की पूँछवाला मृगशिशु तो लाये नहीं, और खेल देखने आ गये। यह कहती हुई, रानी, रोहित को लेकर चल दी। महाराजा हरिश्चन्द्र, मन मे—'रानी ठहर, तेरे लिए मै सोने की पूँछ वाला मृगशिशु लाया तो हूँ, परन्तु तू उसे पसन्द करेगी या नहीं ?' कहते हुए, दौडकर रानी के मार्ग मे खडे हो गये और रोहित को गोद मे उठा लिया। रानी, अबतक यही समझ रही है, कि इन्हे पुन. स्त्री-मोह ने सताया है, इसलिए वे मुस्करा कर यह कहती हुई मार्ग काटकर चलदी, कि पुत्र को भी ले लो, मै अकेली ही रहूँगी। रानी को इसप्रकार मुस्कराकर जाते देख, राजा ने कहा—प्रिये तारा ! यह विनोद का समय नहीं है। तुम्हारे चलने पर, मै दौड़कर आगे आया इसका कारण सोचो। पति की यह बात सुनकर, तारा ठिठक गई। वे विचारने लगीं, कि क्या आज पति को कोई मानसिक दु ख है, जो वे इस प्रकार कह रहे है ? ऐसी अवस्था मे, मैं यदि इनके समीप से चली जाऊँ, तो मुझे धिक्कार है। रानी को रुकी देख, राजा फिर कहने लगे—प्रिये तारा ! आज का मिलन, अनिश्चित समय के लिए अन्तिम मिलन है। अब क्या ठीक है, कब मिले ?

राजा की इस बात ने तो, रानी को कँपा दिया। वे ऐसी घबरा उठी, कि उन्हे रोमांच हो आया। उन्होने, अपना मुँह घुमाकर पति के मुँह की ओर जैसे ही देखा, वैसे ही सहम उठी, कि आज पति का चेहरा बादलो से ढके हुए चन्द्रमा के समान, इतना [illegible]न क्यो है ? इनके चेहरे से प्रकट है, कि इन्हे आन्तरिक [illegible] है। वे, दौड़कर पति के पास आई और दीनता दिखाती हुई हाथ पकड़, नम्रता-पूर्वक कहने लगी—नाथ ! आपने यह

क्या कहा ? आज का मिलन अन्तिम-मिलन क्यो है ? क्यो इस दासी से रुष्ट हो, आपने किसी अन्य स्थान को जाने का विचार किया है, या और किसी कारण से आपको ऐसा करना पडेगा ? प्रभो ! शीघ्र कहिये, आपके इस कथन का अभिप्राय क्या है ?

रानी की इस विनम्रता को देख, राजा आश्चर्य-चकित रह गये। वे, विचारने लगे, कि क्षणभर पहले जो रानी निठुर बनी हुई थी, वह इस प्रकार मेरा दु ख जानने के लिए क्यो व्याकुल हो उठी ? मैं अबतक यह निश्चय नही कर पाया, कि रानी स्वच्छ-हृदय है या कलुषित-हृदय, क्रूर है या सरल, अभिमानिनी है या विनम्र ! कहाँ तो वह, रूठी हुई की तरह जा रही थी और कहाँ लौट कर इस प्रकार नम्रता दिखा रही है ! मेरे प्रति इसको इतना प्रेम, और वह भी सुख मे नही, किन्तु यह जानकर, कि पति इस समय दु खित हैं। मै समझता हूँ, कि मुझे तो दान का फल तत्क्षण ही मिला है। यदि, मै दान करके न आता, तो इस स्त्री-रत्न को, जिसे मै पत्थर समझ रहा था, कैसे जान पाता, कि यह पत्थर नही, किन्तु रत्न है।

राजा को इस प्रकार विचारमग्न देख, रानी की व्याकुलता और भी बढ़ गई। वे कहने लगीं—नाथ ! आप चुप क्यो है ? मेरे प्रश्न का उत्तर क्यों नही देते ? क्या यह दासी उस बात को सुनने के योग्य नहीं है ? यदि ऐसा है, तो कम से कम यही कह दीजिये, जिसमें हृदय को कुछ सन्तोष तो हो।

हरिश्चन्द्र—प्रिये ! ऐसी कौन सी बात हो सकती है, जो तुम्हे सुनाने योग्य न हो ? यदि मै तुम्हे ही न सुनाऊँगा, तो सुनाऊँगा किसे ? और तुम्हीं न सुनोगी, तो सुनेगा कौन ? लेकिन

मैं, यही विचारता हूँ, कि कौन सी ऐसी सुखदायक बात है, जो तुम्हे सुनाऊँ। वह बात तो ऐसी है, जिसे सुनकर तुम दुःख पाओगी।

तारा—हृदयेश्वर, यह तो मै आपकी मुखमुद्रा से ही समझ चुकी हूँ, कि कोई दु.खद बात है, लेकिन मै आपकी अर्द्धांगिनी हूँ, अत. यदि उस सारे दु.ख को न उठा सकूँगी, तो कम से कम आधा दु ख तो बॅटा ही लूँगी। इसलिए आप नि.सङ्कोच कहिए।

हरिश्चन्द्र—प्राणेश्वरी, कर्त्तव्यवश मैंने, राज्य-वैभव सहित ससागर पृथ्वी विश्वामित्र को दान कर दी। उन्होने, मुझसे याचना की; मैं, उनकी याचना खाली जाने देकर सूर्यवंश को कलङ्कित कैसे होने देता? अब, न तो अपना घर रहा है, न बार और न एक समय खाने को ही रहा है। बल्कि, एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्रा दक्षिणा का अपने सिर पर ऋण है।

तारा—प्राणाधार, क्या इसे ही आप दुःख की बात मानते हैं? क्या इसी बात के सुनाने में आपको सङ्कोच हो रहा था? मै तो समझती थी, कि कोई ऐसी बात हुई है, जिसके कारण सूर्यवंश के साथ ही साथ आपको भी कलंक लगने की आशङ्का है। प्रभो, यह तो महान् हर्ष की बात है। इसके सुनने से मुझे दु:ख क्यो कर हो सकता है? ससागर पृथ्वी का दान, ऊपर से एक सहस्र स्वर्णमुद्रा की दक्षिणा, और लेनेवाले विश्वामित्र ऐसे ऋषि, इससे विशेष सौभाग्य की बात क्या हो सकती है? नाथ! आपने इस दासी को कृतार्थ कर दिया। आज, मेरा मस्तक र्व से ऊपर उठ गया कि, मेरा पति ससागर पृथ्वी का दाता है। ससागर पृथ्वी के दान करने वाले को, रहने-खाने की चिन्ता हो,

यह आश्चर्य की बात है। स्वामी, रहने-खाने की चिन्ता तो पशु-पक्षी भी नहीं करते, फिर हम तो मनुष्य हैं। आपके अटल-सत्य के प्रभाव से, सर्वदा आनन्द ही आनन्द है, आप किसी प्रकार की चिन्ता न कीजिये।

अबतक, राजा को चिन्ता थी, कि रानी को राज्यदान की बात असह्य हो उठेगी। वह भारी विपत्ति की कल्पना से, काँप जायगी और मेरे इस कार्य का विरोध करेगी; लेकिन, रानी की बातों को सुनते ही, राजा की चिन्ता काफूर की तरह उड़ गई। उसके स्थान पर, प्रसन्नता की झलक दिखाई देने लगी। वे, मन ही मन कहने लगे—तारा ! मैं तुझे आज ही पहचान सका हूँ। मैं, नहीं जानता था, कि तू सहानुभूति की मूर्ति है। मैंने राज्य को दान नहीं दिया, बल्कि उसका इस तारा रूपी त्रिलोक की मूर्तिमान सम्पत्ति से बदला किया है। लेकिन तारा, अभी तेरी एक परीक्षा और शेष है।

हरिश्चन्द्र ने तारा से कहा—प्राणवल्लभे, तुमने मेरे इस कार्य का विरोध नहीं किया, इसके लिये तुम्हे धन्यवाद देता हूँ। क्योंकि आगे चलकर, ऐसी-ऐसी स्त्रियें होगी, जो, पति यदि किसी विपत्ति के समय भी उनका एक छल्ला बेच लेगा, तो वे उसका विरोध करेंगी, उसे अपमानित करेंगी, और घर मे कलह मचा देंगी।

तारा—आर्यपुत्र ! क्या मैं सुख की ही साथिनी थी ? मैं राज्य के साथ विवाही गई थी, या आपके साथ ? यदि आपके साथ विवाही गई थी, तो मेरे लिए आप बड़े है या राज्य ? और जो राज्य आपने दान मे दिया है, क्या उसे मैंने दान में नहीं

दिया है ? फिर, मै विरोध क्यो करूँ ? भविष्य की स्त्रियो मे से, जो अपने आपको पति की अर्द्धांगिनी मानेगी, वे तो कदापि पति के किसी उचित कार्य का किसी समय भी विरोध न करेगी, और जो पति की अपेक्षा सम्पत्ति को विशेष समझेगी, वे, पति यदि किसी उचित-कार्य मे भी सम्पत्ति व्यय करेगा, तब भी उसका विरोध करेगी। लेकिन, ऐसी स्त्रियो मे भी जो बुद्धिमान होंगी, वे मेरे चरित्र से कुछ न कुछ शिक्षा लेगी ही।

हरिश्चन्द्र—प्रिये ! तुम्हे तुम्हारे कुल, और तुम्हारे माता-पिता को धन्य है, जिनकी तुम पुत्री हो। वह नगर धन्य है, जहाँ तुम्हारा जन्म हुआ। साथ ही मै भी धन्य हूँ, जिसे तुम्हारे समान स्त्री का पति बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

तारा—नाथ, सीमा से अधिक प्रशंसा करना, जिसकी प्रशंसा की जाती है, उसका अपमान है। अतः अब आप क्षमा कीजिये और इस सेविका की ऐसी प्रशंसा न करिये, जिसके लि यह योग्य नहीं है।

हरिश्चन्द्र—अच्छा प्रिये, अब ऐसी बातो मे विशेष-समय लगाना उचित नही है। क्योकि मुझे आज ही यहाँ से जाना है और एक मास के भीतर ही विश्वामित्र के ऋण से मुक्त होना है यदि, इस अवधि मे मै ऋणमुक्त न हो सका, तो विश्वामित्र, शा देकर मेरे कुल का नाश कर देगे। मै उचित समझता हूँ, कि ऋणमुक्त होने के समय तक, मैं तुम्हे तुम्हारे पिता के यहाँ पहुँचा दूँ।

राजा की बात को सुनकर, रानी को वज्राघात-सा दुः, लेकिन उन्होने अपनी इस मर्म—पीड़ा को धैर्य से दबा

हुए कहा—प्रभो! आप मुझे पिता के घर क्यों भेजते हैं? क्या यहीं रहते हुए ऋणमुक्त होने का कोई उपाय नही कर सकते?

हरि०—ना प्रिये, हम लोग यहाँ नहीं रह सकते। विश्वामित्र की आज्ञा, आज ही राज्य से चले जाने की है।

तारा—स्वामी, तो आपने कहाँ जाने का विचार किया है?

हरि०—सिवा काशी के और कोई स्थान ही ऐसा नही है, जो राज्य से बाहर हो।

तारा—फिर क्या मैं काशी नहीं चल सकती?

हरि०—प्रवास और वन के दुःख तुम न सह सकोगी, इसलिए तुम्हारा अपने पिता के घर जाना ही अच्छा है।

तारा—जीवन-सर्वस्व, आप विचारिये तो कि आपके राज्य से बाहर चले जाने और मेरे इसी राज्य मे पिता के घर रहने पर विश्वामित्र की आज्ञा का पूरी तरह पालन कैसे होगा? मैं आपकी अर्द्धांगिनी हूँ, मेरे यही रहने पर, आपका आधा ही अङ्ग राज्य से बाहर गया और आधा अङ्ग तो यहीं रहा। इसके सिवा, जिन कष्टों को आप सह सकेंगे, उन्हें मैं क्यों न सह सकूँगी? आधा अङ्ग कष्ट सहे और आधा अङ्ग सुख मे रहे, यह कहाँ का न्याय है? नाथ! मैं और सब कुछ सुन सकती हूँ, पर यह बात आप न सुनाइये। छाया काया के, कुमुदिनी जल के, चन्द्रिका चन्द्र के और पत्नी पति के साथ ही रहेगी, विलग नही। मुझे, आप के साथ रहने मे आनन्द है, पृथक् रहने मे नही। आपके साथ रहने में मुझे जो कष्ट होंगे, वे मेरे लिये कष्ट नही, वरन सुख हैं, परन्तु आपसे पृथक् रहने पर, सुख भी मेरे लिये कष्ट ही हैं। बिना आपके, मै स्वर्ग को भी तिलांजलि दे सकती हूँ, परन्तु

आपके साथ नर्क मे भी, मैं आनन्द ही मानूँगी। जल से निका
देने पर, मछली को जैसे सब आनन्द-दायक वस्तुएँ, अपने जीव
जल के बिना सुखदायी नही होतीं वैसे ही स्त्री के जीवन; पति
विना, स्त्री को भी सब सुख, दु:ख ही है। मेरे लिए, सुख
आपकी सेवा ही है, उसका योग प्राप्त न होना ही मेरे लिए दु
का कारण है। अतः हे प्रभो, इस दासी को आप अपनी सेवा
विलग न कीजिये और चाहे जो कुछ करिये।

हरिश्चन्द्र—प्राणाधिके, अभी तुम्हारा मेरे साथ चल
उचित न होगा। मै, जहॉ जा रहा हूँ, वहॉ, रहने के लिए न
कोई नियत-स्थान ही है न किसी उद्योग का ही प्रबन्ध है। य
तक, कि एक समय का भोजन भी पास नहीं है। ऐसी दशा
में तुम्हे अपने साथ ले जाकर कष्ट मे नहीं डालना चाहत
इसके सिवा, तुम स्त्री हो, स्त्री-जाति स्वभावतः सुकुमार होती है
तृषा, क्षुधा, मार्ग के कष्ट आदि सहन करने के योग्य स्त्रियाँ न
होती। कदाचित तुमने मार्ग में इन कष्टो को सह भी लिया,
काशी पहुँचकर, मैं तुम्हारे खाने, रहने आदि की चिन्ता करूँ
या ऋणमुक्त होने की? इन सब बातो पर ध्यान देकर तुम्हे
विचारो को बदलना और पिता के यहॉ रहना ही उचित है
यद्यपि, विश्वामित्र ने मेरे साथ ही, तुम्हे भी राज्य से चले जाने
आज्ञा दी है, परन्तु मैं उनसे इस बात की याचना कर लूँगा,
तुम्हारे लिए जाने की आज्ञा निवारण करके, तुम्हे तुम्हारे पि
के यहॉ रहने की आज्ञा दे दें।

तारा—प्राणनाथ, मै आपसे पहले ही प्रार्थना कर चुकी
क आपकी सेवा के बिना मै एक क्षण भी नही रह सकती। मै

जिन कष्टो को नहीं सहा है, उन कष्टो को सहन करने मे आप कब अभ्यस्त हैं, जो आप उन्हें सह लेंगे और मै न सह सकूँगी ? यदि आप उन्हे सहन करने मे समर्थ होंगे, तो मै क्यो असमर्थ रहूँगी ? रहा मेरे खाने-पीने का प्रश्न, किन्तु यह प्रश्न तो आपके लिए भी है। अत. जिस प्रकार आप भूखे रहेंगे, उसी प्रकार मै भी रहूँगी। बल्कि आपके भोजन कर लेने पर भी, मैं बिना खाये रह कर आपकी सेवा कर सकती हूँ। इतना ही नही, बन-बन भटककर, बिना नीद लिये, आपकी सेवा कर सकती हूँ। प्रभो ! ऋण की चिन्ता आप ही को नही है, मुझे भी उसकी चिन्ता है। क्योकि उस ऋण में, आधी रकम की ऋणी मै हूँ। सुख के समय और लाभ मे तो पत्नी पति के साथ रहे, और दु ख तथा हानि के समय पति से पृथक् रहे, यह मनुष्योचित कार्य नही है। किसी कवि ने कहा है —

प्रारम्भ कुसुमाकरस्य परितो यस्योल्लसन्मंजरी ।
पुञ्जे मञ्जुलगुंजितानि रचयस्तानातनोरुत्सवान् ॥
तस्मिन्नद्य रसाल शाखिनिदशा दैवात् कृशामचति ।
त्वं चेन्मुंचसि चचरीक विनयं नीचस्त्वदन्योऽस्तिकः ॥

अर्थात्—हे भौरे ! वसंत के आते ही जब आम मे मंजरियाँ खिल उठीं, तब तो तूने उसके चारो ओर मंजु-मंजु गुंजार करते हुए, खूब मजा लिया। अब, दैववशात् आम के वृक्ष के कृश हो जाने-पुष्प-विहीन हो जाने। पर यदि तू उससे प्रेम न रखेगा, तो तुझसे बढ़कर नीच कौन होगा ?

स्वामी, जब भौंरा भी ऐसा करने पर नीच कहलाता है,तब मनुष्य और विशेषत. पत्नी का, ऐसा व्यवहार क्योंकर उचित कहा जा सकता है ? नाथ, मै क्षत्रिय-कन्या हूँ, वीरपत्नी हूँ और वीर माता हूँ। कष्टो के भय से, मै आपकी सेवा का त्याग कदापि नही कर सकती। प्राणवल्लभ ! क्षत्रिय लोग देना जानते हैं, याचना करना नही जानते। याचना करना क्षत्रियोचित कार्य नहीं है। फिर आप मेरे रहने के लिए, विश्वामित्र से भीख माँगे, यह सूर्य-वंशी राजा और ससागर-पृथ्वी-दाता के लिए तो और भी विशेष-कलङ्क की बात है। आप, मेरे लिए वंश को दाग लगावे, यह नितान्त अनुचित है। इसलिए, कृपा करके आप ऐसी निष्ठुर आज्ञा न देकर, इस दासी को सेवा में साथ ही रखिये। यह सेविका, बिना आपकी सेवा के अपना जीवन नहीं रख सकती, न पति-वियोग की अपेक्षा, मृत्यु को बुरा ही समझती है।

हरिश्चन्द्र—प्रिये, कहाँ तो तुमने बिना सोने की पूँछवाला मृगशिशु लाये मुझे अपने महल मे आने से भी रोक दिया था और कहाँ आज इस प्रकार साथ चलने को कह रही हो ?

तारा—नाथ, यह बात तो मै भूल ही गई थी। आपने खूब याद दिलाई। आप, सोने की पूँछवाला मृगशिशु लेकर ही आज पधारे हैं, इससे मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो गई। क्या, राज्य का दान करना कोई साधारण कार्य था ? आपने, इस सोने की पूँछवाले मृगशिशु के समान असम्भव-कार्य को सम्भव कर दिखाया, फिर अब मेरी प्रतिज्ञा, अपूर्ण क्यो कर कहला सकती है ? प्रभो ! आपके साथ जो निठुरता का व्यवहार किया था, वह इसी अभिप्राय से, कि आप असंभव-कार्य को भी सभव कर दिखावे।

मेरी, यह अभिलाषा पूर्ण हुई। अब, मैं आपसे उस निठुर-व्यवहार के लिए क्षमा-याचना करती हूँ।

हरिश्चन्द्र—तारा! मैं आज तुमको समझ सका, कि तुम कौन हो, मेरे प्रति तुम्हारे हृदय में क्या भाव हैं, और मेरे लाभ के लिए तुम अपने स्वार्थ को किस प्रकार ठुकरा सकती हो। कोई दूसरी स्त्री, तुम्हारी समता करने के लिए, युवावस्था में पति-सुख छोड़ने और इस प्रकार त्याग दिखाने मे कदापि, समर्थ नही हो सकती। यद्यपि, मैने अपना राज्य दान कर दिया है, तथापि उसके फल-स्वरूप तुम मुझे प्राप्त हुई हो। तुम, मेरे लिये अमूल्य हो, मेरी दृष्टि मे संसार की और कोई वस्तु, तुम्हारे मूल्य के बराबर नही है। सांसारिक लोगो की यह प्रथा है, कि विदेश-गमन के समय मूल्यवान-पदार्थ को साथ न ले जाकर, किसी स्थान पर सुरक्षित रख देते हैं। इसी के अनुसार, मैं भी तुम्हें तुम्हारे पिता के यहाँ सुरक्षित रखने में अपना लाभ देखता हूँ।

तारा—स्वामी, आप और सब कुछ कहिए, परन्तु मुझे आपकी सेवा से दूर रहने को कदापि न कहिए। सुख के समय स्त्री चाहे पति से दूर रहे, परन्तु दुःख के समय, जो स्त्री सुख के लिए पति का साथ छोड़ देती है, वह स्त्री नहीं वरन् स्त्री-जाति का कलङ्क है। यदि आपको मेरी प्रशंसा करके, फिर इस प्रकार अपमानित करना है, तारा के नाम की गणना भी ऐसी कलङ्किनी-स्त्रियों में ही करानी है, तब तो जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिए; अन्यथा, इस दासी को साथ रखकर देखिए, कि यह आपकी कैसी सेवा करती है। उस समय आपको यह भी परीक्षा हो जायगी, कि यह दासी आपकी अर्द्धाङ्गिनी कहलाने के योग्य है,

था नही। प्रभो! आपने जो युक्ति दी है उसके अनुसार भी विपत्ति के समय मूल्यवान-पदार्थ को समय-असमय के लिए साथ रखा जाता है, छोड़ा नही जाता। मूल्यवान-पदार्थ भी, विपत्ति की सहायता के लिए होते है, उनको सुरक्षित रखकर विपत्ति सही जाय, यह नीति-विरुद्ध सिद्धान्त है। नाथ! इस दु:खिनी के लिए पति वियोग का दु:ख असह्य है और वह भी कष्ट के समय। इस दासी की शोभा तो आप ही के साथ है। अब तक, राज-सुख भोगने मे यह सेविका जिस प्रकार आपकी सहयोगिनी रही है उसी प्रकार कष्ट भोगने में भी सहयोगिनी रहेगी। पति-पत्नी-सम्बन्ध ही, सहयोगके लिए होता है; अतः मुझे, इस समय आपका सहयोग करने से वंचित न कीजिये। मैं, अपने कारण से आपको किसी प्रकार भी कष्ट न होने दूँगी, बल्कि जो कष्ट होगे, उनमे से आधे मैं बँटा लूँगी। जिस प्रकार, ऊदबत्ती की परीक्षा उसके जलने पर होती है; वैसे ही स्त्री की परीक्षा कष्ट मे होती है। सुख के समय तो, स्त्री का पति-भक्ता होना कोई विशेष बात नही है। उसकी पतिभक्ति की परीक्षा, पति के संकट-काल मे ही होती है। इसलिए, आप दया करके मुझे इस कसौटी के स्वर्ण-सुयोग से, दूर न कीजिए। मैं मेरे लिए आपको कोई चिन्ता न होने दूँगी। मैं स्वयं ही, कष्ट के समय स्वावलम्बन ग्रहण करूँगी। इतने पर भी, यदि आप मेरी प्रार्थना स्वीकार न करेंगे, तो मेरे लिए, मृत्यु का आलिङ्गन अनिवार्यत आवश्यक हो जायगा।

श्चन्द्र, मन-ही-मन तारा की प्रशंसा और अपने की सराहना करते हुए, कहने लगे—एक तो वे स्त्रियें हैं,

जो दुःख के समय पति से पृथक् सुख से रहने मे प्रसन्न होती है, और एक तारा है, जिसने सुख के समय तो मुझे अपने से दूर रखा परन्तु दुःख के समय वह मेरे से दूर नहीं रहना चाहती। किसी दूसरी स्त्री से, यदि ऐसे समय कहा जाता, कि तुम दुःख में साथ न रहो पर सुख मे रहो, तो वह प्रसन्न होकर कहती, कि अच्छा हुआ, जो मुझे इस दुःख से छुटकारा मिला, परन्तु धन्य है तारा को, जो मेरे इतना समझाने-बुझाने पर भी, इस आपत्तिकाल में मेरे साथ ही चलना चाहती है।

राजा ने जब देखा, कि तारा किसी प्रकार भी मेरा साथ न छोड़ेगी, तब उनने और कुछ समझाना अनावश्यक समझा। उन्होने कहा—तारा, यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो देर न करो, शीघ्र तैयार हो जाओ। लेकिन इस बात का ध्यान रखो, कि साथ मे एक कौड़ी भी लेने की आवश्यकता नही है, बल्कि वस्त्र भी इतने साधारण हो, कि जिनसे अधिक-साधारण हो ही नही। और वे भी इतने ही हो, जितने के बिना काम न चले। रोहित के शरीर पर भी कोई मूल्यवान वस्त्राभूषण न रहे, उसके वस्त्र भी वैसे ही साधारण हो, जैसे साधारण मैंने बतलाए हैं।
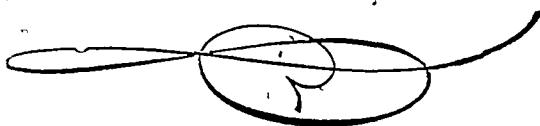
प्रजा और विश्वामित्र

जो राजा, प्रजा का पुत्रवत् पालन करता है, उसके दु:ख में दु:खी और उसके सुख मे सुखी होता है, जिसके कार्य न्याय और धर्म के विरुद्ध नहीं होते, उस राजा को प्रजा भी अपने पितृवत् समझती है और ऐसे राजा के दु:ख से, वह भी दु:खी, तथा सुख से सुखी होती है। आवश्यकता पड़ने पर, ऐसे राजा के लिए प्रजा, अपना तन, धन और प्राण तक समर्पण करने में सौभाग्य मानती है। सारांश यह, कि जिस राजा को प्रजा प्रिय है, उसकी प्रजा को वह भी प्रिय है। इसके विरुद्ध, जो राजा प्रजा को धन-शोषण द्वारा कष्ट मे डालता है, उनके सुख और अधिकारों की उपेक्षा करता है, केवल अपने ही आनन्द में आनन्द मानता है, उसकी प्रजा भी, राजा के प्रति अच्छे भाव नहीं रखती। वह, हृदय से राजा को कोसा करती है, तथा ऐसे राजा से पीछा छूटने को मनाया करती है। इससे सिद्ध है कि राजा जैसा चाहे, अपनी प्रजा को वैसी ही बना सकता है। चाहे वह अपने अनुकूल बनावे,

।

ामित्र से रुष्ट हो, सभासदों के सभा छोड़कर आते

हा, सारे नगर मे यह समाचार विजली का तरह फैल गया, कि आज, राजा ने राज-वैभव सहित ससागर-पृथ्वी का दान विश्वामित्र को दे दिया और विश्वामित्र ने, उन्हें नगर छोड़ देने की आज्ञा दी है। महाराजा हरिश्चन्द्र, कुछ ही समय मे इस नगर को उसी तरह सूना करके जाने वाले हैं, जैसे सूआ पींजरे को छोड़कर उड़ जाता है। इस भीषण-संवाद ने, सारे नगर-निवासियों में खलबली मचादी। प्रजा, हरिश्चन्द्र के विरह से होने वाले दुःख का अनुमान कर, और उनके न्याय-राज्य का स्मरण कर, वैसी ही अधीर हो उठी, जैसे जल से निकाल देने पर मछली। लोग, जहाँ-तहाँ झुण्ड के झुण्ड एकत्रित हो, इसी विषय की चर्चा करते हैं, कि राजा ने तो इस राज्यरूपी परतन्त्रता से अपने को स्वतन्त्र कर लिया, परन्तु हमारी क्या दशा होगी। उस विश्वामित्र को धिक्कार है, जिसे ऋषि होकर राज-सुख का लोभ हुआ! उस निर्दयी को, राजा से राज्य लेकर, उनपर एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्रा का ऋण लादते, लज्जा भी नहीं आई। उस ऋषि से तो, हम गृहस्थी ही अच्छे हैं, जो छल द्वारा किसी की सम्पत्ति का हरण तो नहीं करते। उस पापी पर वज्र भी नहीं गिरा! राजा से ऐसा व्यवहार करते समय, उसका हृदय क्यों नहीं फट गया, और जिस जीभ से उसने, राजा से राज्य माँगकर उन्हे दक्षिणा के ऋणजाल में फाँस लिया, तथा नगर छोड़कर चले जाने की आज्ञा दी, वह टुकड़े-टुकड़े क्यो न होगई!

इस प्रकार, उस समय विश्वामित्र के लिए, जिसके मुँह मे जो आया, वह वही कहने लगा। प्रजा को विकल और विश्वामित्र के प्रति सरोष देख, प्रजा में के कुछ बुद्धिमान लोगों

ने कहा—यो विश्वामित्र पर क्रोध करके उन्हे दुर्वाक्य कहने से न तो अपना ही कुछ लाभ है, न राजा का ही। राजा ने, राज-दान करके अपना कर्त्तव्य पाला है। यदि अपनी दृष्टि मे राजा निर्दोष है, तो कोई ऐसा कार्य करना चाहिए, जिससे राजा को कुछ सुख मिले। हमारी समझ से तो, इस समय विश्वामित्र के पास चलकर, उनसे इस विषय मे बात-चीत करनी उचित है। यदि वे, राजा पर जो ऋण है, वह हम से लेकर उन्हें ऋणमुक्त कर दे, तथा यदि और कुछ चाहे, तो और भी कुछ लेकर राजा को उनकी इच्छानुसार स्थान पर रहने की स्वतन्त्रता दे दें, तो इससे राजा का भी कुछ लाभ हो और अपनी सहानुभूति का भी परिचय मिले।

बुद्धिमानो की यह बात, सब को पसन्द आई। प्रजा मे से, कतिपय मुख्य-मुख्य लोगो का एक डेपुटेशन बनाकर उसे विश्वामित्र के पास भेजा गया। इस डेपुटेशन के पीछे-पीछे प्रजा भी चली। प्रजा के इस झुण्ड मे से कोई कहता था, कि राजा के लिए इतना धन दे सकता हूँ, कोई कहता था, मै इतना दे सकता हूँ और कोई कहता था, कि मैं अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपने आपको भी राजा के ऊपर न्यौछावर करने को तैयार हूँ। अस्तु।

विश्वामित्र, चिन्तित—भाव से बैठे हुए विचार रहे थे, कि हाय! मैं क्या करने आया था और क्या हो गया। मैने विचारा था, कि मै हरिश्चन्द्र का मान-मर्दन करूँगा, उसको अपराध स्वीकार कराकर दण्ड दूँगा और इस प्रकार अपने तप-बल का उसपर प्रकट करके, भविष्य मे किसी ऋषि की और मेरी, अवज्ञा न करने की प्रतिज्ञा कराऊँगा। मैने

अपने ही हाथो से अपना मान-मर्दन कर डाला, अपने ही मुख से अपने आपके लिए दण्ड माँग लिया और अपने आप ही हरिश्चन्द्र के सत्य से प्रभावित हो गया। एक मै हूँ; जो वृक्षो की छाया मे रहनेवाला, भिक्षान्न से निर्वाह करनेवाला होकर, आज चक्रवर्ती-राजा बनने जा रहा हूँ, और एक ससागर-पृथ्वी के स्वामी महाराजा हरिश्चन्द्र हैं, जिन्होने प्रसन्नता के साथ अपना सर्वस्व मुझे देकर, ऊपर से ऋण लाद लिया और अब वनवासी के वेश मे काशी जा रहे हैं। हम दोनो मे विजयी कौन हुआ, मैं या हरिश्चन्द्र? एक तो, इस राज्य रूपी जेल से छूटकर स्वच्छन्द तथा स्वतन्त्र हो गया और दूसरा अपनी स्वच्छन्दता तथा स्वाधीनता को क्रोध-सागर मे डुबा, इस राज्य-रूपी जेल मे स्वयं ही आकर बन्दी हो गया। तपबल और सत्य-बल के संग्राम में, किसको पराजय मिली? हरिश्चन्द्र! मेरा तप-बल तुम्हारे सत्यबल से परास्त हो गया, परन्तु मै सहज मे ही अपने तपबल को कलंकित और तुम्हारे सत्यबल को प्रशंसित न होने दूँगा। मैं, अन्त तक अपने को कलंक से बचाने का उपाय करूँगा। यद्यपि क्रोध ने मेरा सर्वनाश कर दिया है, मुझे त्यागी से भोगी बना दिया है, मै राजर्षि ही नही, ब्रह्मर्षि भी हो जाऊँ तो क्या, परन्तु मैं इस दुष्ट क्रोध पर विजय नही पा सका हूँ; फिर भी इस समय इस तरह पश्चात्ताप करने से लाभ के बदले हानि ही अधिक है। यदि मैं इसी समय पश्चात्ताप करूँगा और हरिश्चन्द्र को उसका राज्य लौटा दूँगा, तो ससार मे मेरी निन्दा होगी। सब लोग, हरिश्चन्द्र की प्रशंसा और मेरा उपहास करेगे, तथा मुझे मार्ग चलना भी कठिन हो जायगा।

विश्वामित्र, इसी विचार-सागर मे निमग्न थे, उसी समय सेवक ने, प्रजा के डेपुटेशन के आने की सूचना दी। विश्वामित्र समझ गये, कि ये लोग हरिश्चन्द्र के ही विषय में कुछ कहने आये होंगे इन्हे हरिश्चन्द्र ऐसे सत्यवादी राजा के राज-त्याग का दु ख होगा, उसे ही सुनाने आये होंगे। ये लोग, निश्चित ही प्रशंसा के पात्र हैं, परन्तु इस समय उनका मुझ मूर्त्तिमान-क्रूरता से, किसी बात की आशा करना ही व्यर्थ है। लेकिन उनकी बात सुननी उचित है, यह सोचकर उन्होंने डेपुटेशन को आने की आज्ञा दी।

प्रतिष्ठित प्रजाजनो के सामने आने और उनके प्रणाम कर चुकने पर, विश्वामित्र ने कर्कश-स्वर मे पूछा—क्या है ?

डेपुटेशन के नेता ने उत्तर दिया—हम आपसे कुछ प्रार्थना करने आये है।

विश्वामित्र—कहो, क्या कहना है ?

नेता—हमने सुना है, कि महाराजा हरिश्चन्द्र ने, आपको राज्य दान मे दे दिया है, और आज से आप हमारे राजा हुए हैं।

विश्वामित्र—हाँ

नेता—राजा का कर्त्तव्य है, कि प्रजा के दुःखो को ध्यानपूर्वक सुनकर, उन्हे दूर करने का प्रयत्न करे।

विश्वामित्र—तुम अपना दु ख तो कहो।

नेता—जिसने अपना राज्य-वैभव एक क्षण मे दान कर दिया अपनी स्त्री या पुत्र की किंचित भी चिन्ता न की, उस महाउदार र पर, हमने सुना है, आपने एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्रा का ऋण , उसे यहाँ से चले जाने की आज्ञा दी है ?

विश्वामित्र—तुम लोगो को बात का अच्छी-तरह पता नही है। हरिश्चन्द्र ने, मेरे आश्रम की बन्दिनी अप्सराओ को छोड़ दिया। मैं, उसके इस कार्य का उपालम्भ देने आया, और मैंने उससे केवल यही कहा, कि तू अपना अपराध स्वीकार करले; परन्तु वह तो ऐसा निकला, कि अपराध स्वीकार करना तो दूर रहा, उल्टे कहने लगा, कि मैंने उन्हे दया करके राज-धर्मानुसार छोडा है। मैंने कहा—राज-धर्म तो दान देना भी है, तू अपना राज्य दान कर सकता है? बस, इसी पर उसने अपना राज्य मुझे दान कर दिया। अब, तुम्ही बताओ, कि जो राजा ऋषियो के आश्रम की बन्दिनियों को छोड़ दे, हठ मे पड़कर अपना अपराध भी स्वीकार न करे, बल्कि बात ही बात मे अपना राज्य दूसरे को सौंप दे, वह राज्य करने योग्य कैसे कहा जा सकता है?

नेता—उन्होने आपको राज्य दिया है, तो आप प्रसन्नता-पूर्वक राज्य कीजिये, हमे राज्य के विषय मे कुछ भी नही कहना है। हमारी प्रार्थना तो यह है, कि आपने उनके ऊपर जो ऋण लाद रखा है, वह हमसे ले लीजिए। बल्कि यदि अधिक लेने की इच्छा हो, तो अधिक ले लीजिए, परन्तु उन्हे यह स्वतन्त्रता दे-दीजिए, कि उनकी जहॉ इच्छा हो, वहॉ रहे। उन्हे यहॉ से जाने के लिए बाध्य न कीजिए। हरिश्चन्द्र, हम लोगो को पिता से अधिक प्रिय हैं; अत उनके विषय में, हमारी इस प्रार्थना को स्वीकार कीजिए। यदि आप, हरिश्चन्द्र को यह स्वतन्त्रता देने के बदले मे हमारा सर्वस्व भी लेना चाहे, तो हम इसके लिए भी तैयार है। साथ ही, आपको हम यह भी विश्वास दिलाते हैं, कि वे आपके राज-कार्य मे किसीप्रकार का हस्तक्षेप न करेगे और

राजमहल से दूर हम लोगो के घर मे, शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करेगे।

विश्वामित्र—तुम लोग यह बात मुझसे कहते हो, तो हरिश्चन्द्र से ही क्यो नही कहते, कि वह अपना अपराध स्वीकार कर ले? मुझे राज्य की आवश्यकता नही है। उसके हठ छोड़कर अपराध स्वीकार करते ही, मै उसका राज्य उसीको लौटा दूँगा। फिर वह आनन्द से यही रहे।

नेता—हरिश्चन्द्र ने जब कोई अपराध किया ही नहीं है, तब हम उनसे अपराध स्वीकार करने के लिए कैसे कह सकते हैं?

विश्वामित्र—तुम लोग भी, हरिश्चन्द्र की ही बुद्धि के मालूम होते हो। हरिश्चन्द्र ने अपराध किया है, फिर भी तुम कहते हो किया ही नही!

नेता—खैर, किया होगा; हम इस बात की मीमांसा नहीं करना चाहते। यदि उन्होने अपराध किया है और उसे स्वीकार नहीं करते है, तो इसका फल वे भोगेगे; परन्तु आपको उनपर का ऋण हमसे लेकर, उन्हे यही रहने की आज्ञा देने मे क्या आपत्ति है? हम तो आपसे यही प्रार्थना करते हैं, कि आपको जब उन्हे कष्ट देना अभीष्ट नही है, तो उन्हे ऋणमुक्त करके यहां से चले जाने की आज्ञा लौटा लीजिये।

विश्वामित्र—मैने तुम लोगो से जो कुछ कहा है, उसे तो समझते नहीं और अपनी ही कहे जाते हो। तुम हरिश्चन्द्र से ...ो कि वह अपना अपराध स्वीकार करले, बस, फैसला हुआ। न तो उसे कही जाने की ही जरूरत है, न राज्य छोड़ने ... है।

नेता—जव उन्हे राज्य का लोभ होगा, तव वे आप ही अपने अपराध को स्वीकार कर लेगे। यदि अपराध स्वीकार न करेंगे तो राज्य न पावेंगे। उन्हे, ऋणमुक्त करके, यहाँ रहने देने की वात से और अपराध स्वीकार करने से तो कोई सम्बन्ध नही है। फिर ऐसा करने में आपको क्या आपत्ति है?

विश्वामित्र इसका क्या उत्तर देते? अत. उन्हे अन्याय का ही आश्रय लेना पड़ा और डेपुटेशन की बात को सत्य जानते हुए भी, उन्हे यही कहना पड़ा कि तुम लोग भी दुराग्रही हो, अत यहाँ से निकल जाओ!

विश्वामित्र ने, उसी समय सेवको को आज्ञा दी, जिन्होने इन सभ्य-गृहस्थो को निकाल दिया। जाते समय, इन लोगो ने विश्वा-मित्र के प्रति घृणा प्रकट करते हुए कहा—दुराग्रही हम नही, वल्कि आप हैं, जो अपने राज्य-दाता को, इस प्रकार कष्ट में डालने का प्रयत्न करते और उसे झूठ अपराध स्वीकार करने के लिए विवश करते हैं।

डेपुटेशन की सफलता की आशा से नगर के शेष लोग, राज-सभा के समीप ही खड़े थे। डेपुटेशन के वाहर निकलते ही, सव लोग उसके पास दौड़े गये, परन्तु उसका उत्तर सुनकर सव की आशा, निराशा मे परिणत हो गई। प्रजा कहने लगी, कि आप लोगो का अपमान भी हुआ और सफलता भी न मिली।

नेता ने कहा—कार्य करना अपने अधिकार की वात थी; फल मिलना अपने अधिकार से परे की वात है। रही अपमान की वात, सो जिस विश्वामित्र ने अपने राज्य-दाता हरिश्चन्द्र निकल जाने की आज्ञा दे दी, वह यदि हमे निकाल

आश्चर्य की बात ही क्या है ? आपको और हमे, इसके लिए किंचित भी दु:ख न मानना चाहिये।

डेपुटेशन के असफल होने से प्रजा को बहुत दु:ख हुआ। वह उसी प्रकार सिर पर हाथ रखकर दु:ख करने लगी, जैसे मधु के नष्ट हो जाने पर मधुमक्खी। विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र के स्वभावो एवं न्यायकारिता आदि का तुलनात्मक विचार, प्रजा के हृदय को विदीर्ण किये डालता था। उधर, स्त्रियो मे भी घर-घर यही चर्चा हो रही है, और वे तारा के स्वभाव आदि का स्मरण कर, दु:ख कर रही हैं। सब स्त्री-पुरुष, राजा के महल के सम्मुख आकर एकत्रित हो गये और उनके महल से बाहर आने की प्रतीक्षा करने लगे।
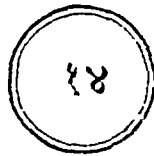
दीन-वेश में नृप-परिवार

यह ससार, एक चक्र के समान परिवर्तनशील है। जो आज बालक हैं, वे ही कल बूढे दीख पडेंगे। जो आज बूढे हैं, वेही कल बालक के रूप में होजायँगे। जो आज सुखी है, वही कल दुखी हो सकता है, और जो दुखी है, वह सुखी हो सकता है। अस्तु।

जो, कुछ समय पहले एक विशाल-राज्य के स्वामी थे, अलंकारादि से जिनका शरीर सजा रहता था, वे ही महाराजा हरिश्चन्द्र और उसी राज्य की साम्राज्ञी महारानी तारा, इस समय दीन से भी दीन हैं। तथा वे विश्वामित्र, जो थोड़ी ही देर पहले वनवासी थे, भिक्षा ही जिनका आधार था, इस समय एक विशाल-राज्य के सम्राट हो गये हैं। संसार की, यह परिवर्तनावस्था होते हुए भी, जो अपने सुख-वैभव का घमण्ड करते हैं, या जो अपने दुःख से कातर होते हैं, उन्हे अज्ञानी के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए ज्ञानी लोग कहते हैं, कि न तो सुख में दर्पित होओ और न दुःख मे घबराओ।

हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित; अपने राजसी-वेश को दीनों के वेश मे परिणत कर, महल से बाहर निकले। हरिश्चन्द्र के जिस मस्तक पर स्वर्ण-मुकुट शोभा पाया करता था, उसी मस्तक पर

आज केशो का मुकुट है। जिस शरीर पर बहुमूल्य वस्त्राभूषण रहते थे, उस शरीर पर केवल एक पुराना वस्त्र है, जिसमे से आधा पहिने और आधे से शरीर का ऊपरी-भाग ढाँके हुए हैं। रानी और रोहित भी इसी वेश मे है। तीनो के शरीर पर, आभूषण की जगह उनके चिन्ह मात्र अवशेष है। इतना होने पर भी, इनके चेहरे से असाधारण तेज छिटक रहा है।

मनुष्य की स्वाभाविक-सुन्दरता या कुरूपता, किसी समय और किसी वेश मे भी नही छिपती। उसे छिपाने के उपाय भी किये जायँ, तब भी वह नही छिपती। तपस्वी का शरीर यद्यपि दुर्बल होता है, वस्त्र भी किसी विशेष प्रकार के नही रहते, फिर भी उसके शरीर के तेज और सुन्दरता की समता, अनेक वस्त्रालंकारधारी दुराचारी का शरीर कदापि नही कर सकता। इसीप्रकार इस समय हरिश्चन्द्र-तारा और बालक रोहित उस वेश मे हैं, जो दीनो का होता है, लेकिन, इनका तेज इस वेश मे भी शोभा दे रहा है।

हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित, तीनो राजमहल से निकलकर, विश्वामित्र के समीप आये। विश्वामित्र, इन लोगो को देखकर, आश्चर्य-चकित हो विचारने लगे, कि क्या यह वही राजा है, जो अवध के मणि-मुक्तामय राज-सिंहासन पर बैठता था, जिसके सिर पर मुकुट शोभा पाता था, जिसके ऊपर चँवर ढुला-करते थे और छत्र छाया किये रहता था? क्या यह वही रानी है, जो बहुमूल्य वस्त्राभूषणो से अलंकृत रहती थी, अनेको दासिये जिसकी सेवा मे उपस्थित रहती थी? क्या यह वही महारानी-तारा है, जो महलो मे उसी प्रकार शोभा देती थी, जैसे आकाश

में चन्द्रमा ? क्या यह वही बालक है, जिसके लिए संसार के बहुमूल्य-पदार्थ तुच्छ माने जाते थे, जो अवध का भावी-शासक कहलाता था और प्रजा, जिससे, भविष्य की अनेकानेक आशाएँ करती थी ? वही राजा, वही रानी और वही बालक, आज इस वेश में हैं, फिर भी इनके चेहरे पर विषाद का चिन्ह मात्र नहीं है। राजा ने तो मुझे सब दान कर दिया, इसलिए उसका ऐसा करना तो कोई विशेषता नहीं है, परन्तु रानी तो उससे भी बढ़-कर निकली। स्वभावत आभूषण-प्रिय स्त्रियों मे से एक यह है, जिसने सब आभूषणों को त्याग दिया। इस वेश में; इसके ललाट की सुहाग-सूचक सिन्दूर की बिन्दी कैसी शोभा दे रही है, जैसे किसी स्वर्णाभूषण पर रत्न जड़ा हुआ हो। मै विचारता था, कि रानी स्त्री-स्वभावानुसार, सुख-त्याग के दु ख से भयभीत हो, पति के इस कार्य का विरोध करेगी, परन्तु धन्य है इसे, जो इस दशा मे भी पति का सहयोग करने जा रही है।

राजा, रानी और रोहित ने, विश्वामित्र को प्रणाम करके कहा—महाराज, अब हमे आशीर्वाद दीजिए। मै, आज अपनी प्राणो के समान प्रिय प्रजा को, आपके हाथो मे अर्पण करके जारहा हूँ। आज से प्रजा के पिता, प्रभु, पालक तथा रक्षक आप ही हैं। मैं आशा करता हूँ, कि आप इसपर उसी प्रकार प्रेमपूर्वक शासन करेंगे, जैसे पिता, पुत्र पर शासन करता है।

विश्वामित्र ने, राजा के कथन को सुन तो लिया, परन्तु ग्लानि के मारे सिर ऊपर न उठा सके। पहले वे विचारते थे, कि जाते समय मै राजा को यह कहकर अपमानित करूँगा, कि तुम्हारे, तुम्हारी स्त्री या पुत्र के शरीर पर यह वस्तु है, जिसे रखने का

तुम्हे अधिकार नहीं है; लेकिन राजा ने, अपने, तारा के और बालक के शरीर पर, लज्जा की रक्षा के लिए, केवल एक-एक वस्त्र रखा था और वह भी पुराना। इसके सिवा उनके पास कोई भी ऐसी वस्तु न थी, जिसके लिए विश्वामित्र को कुछ कहने का अवसर मिले। यहाँ तक, कि पैरो मे जूते भी नही थे।

विश्वामित्र को सिर नीचा किये देख, और उनके ऐसा करने के कारण को समझ, बिना उनके उत्तर की प्रतीक्षा किये ही महाराजा-हरिश्चन्द्र, रानी तथा बालक को लेकर चल दिये। बाहर आते ही, प्रजा उनके साथ हो ली। आगे-आगे राजा, उनके पीछे गोद मे बालक को लिये हुए रानी, अपने पूर्वजो की राजधानी अयोध्या से बाहर निकले। साथ के स्त्री-पुरुष, इनके वियोग के दुःख से विलाप करते जाते थे, परन्तु राजा और रानी के मुख पर, दु ख की रेखा तक न थी। हरिश्चन्द्र और तारा ने, सब स्त्री पुरुषो को लौट जाने के लिए कहा, परन्तु उस विलाप के समय इनके उस कथन को कौन सुनता था? सब लोग, नगर से बाहर भी साथ ही साथ आये। राजा, इन लोगो को लौटते न देख, चिन्तित हुए, कि यदि ये लोग मेरे साथ आये, तो बड़ा अनर्थ होगा। विश्वामित्र, इसके लिए मुझे ही अपराधी ठहराकर कहेगे, कि मेरे राज्य को निर्जन बनाने का उपाय कर रहा है। अनेक प्रकार से कहने-सुनने पर भी जब वे लोग न लौटे, तब राजा और रानी, नगर के बाहर एक स्थान पर ठहर गये। नगर के सब पुरुष, ..श्चन्द्र को और नगर की सब स्त्रिये तारा को, घेरकर खड़ी हो २। पुरुष तो राजा से कह रहे हैं, कि आप यही रहिए, यहाँ से न जाइए। विश्वामित्र के राज्य से, हम लोगो को कष्ट होगा।

आपके ऊपर का ऋण हम दिये देते है। आप, राज-कार्य न करके, यदि शान्ति से हमलोगो के यहाँ बैठे भी रहेंगे, तब भी अन्याय-उलूक आपके प्रताप-तेज के सामने छिपे ही रहेंगे। यदि इसपर भी आप जावे ही, तो हम लोग भी आपके साथ चलेंगे। हमारे लिए अयोध्या वही है, जहाँ आप हो। आपके बिना, अयोध्या भी हमे नर्क के समान दुःखदायी होगी।

हरिश्चन्द्र के पास तो पुरुषवृन्द, इस प्रकार विनय कर रहा है, और उधर राजपुरोहित, प्रधान तथा नगर के अन्य प्रतिष्ठित-पुरुषो की स्त्रियें, तारा से कह रही हैं, कि आपने तो राज्य नहीं दिया है, फिर आप क्यो जाती हैं? राजा ने राज्य दिया है और उन्हें विश्वामित्र नहीं रहने देते, तो उनका जाना तो ठीक भी है, परन्तु आप क्यो जायँ? आपके जाने की तैयारी देखकर हम-लोगों को बहुत दुःख हो रहा है, अतः हमारी प्रार्थना है, कि आप यहीं रहे। यदि विश्वामित्र, आपको राजमहल में न रहने देंगे, तो हम आपको अपने यहाँ रक्खेगी, परन्तु आपका जाना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। यदि आप न मानेगी, तो हम भी आपके साथ-साथ चलेंगी।

राजा और रानी से, प्रत्येक स्त्री-पुरुष इसीप्रकार कह रहा है। प्रत्येक को, पृथक्-पृथक् कबतक समझाया जायगा, इस विचार से दोनों ने भाषण द्वारा ही, प्रजा को समझाना उचित समझा। राजा और रानी, एक-एक टीले पर खडे हो गये। जिस टीले पर राजा खडे थे, उसके चारो ओर पुरुष, और जिस पर रानी खड़ी थी, उनके चारो ओर स्त्रिये खड़ी होकर उनके मुँह की तरफ देखने लगीं।

प्रजा को उपदेश

लोगो पर, उपदेश का प्रभाव, या तो भय से पड़ता है, या प्रेम से। भय-प्रदर्शन द्वारा जो उपदेश मनवाया जाता है, वह उपदेश तभी तक अपना प्रभाव रख सकता है, जबतक कि भय है। भय के नष्ट होने के साथ ही, उपदेश का प्रभाव भी नष्ट हो जाता है। लेकिन, जिस उपदेश का प्रभाव प्रेम से होता है, वह किसी समय भी नष्ट नही होता, वरन् उत्तरोत्तर वृद्धि करता जाता है। उदाहरणार्थ एक वह राजा उपदेश दे, जो किसी शक्ति विशिष्ट से सम्पन्न है, और एक वह त्यागी दे, जिसमे राजा के समान कोई शक्ति नही है। इन दोनो मे से, राजा का उपदेश तभी तक ..ना जावेगा, जबतक उसमे वह शक्ति है। उस शक्ति के न रहने पर, वह उपदेश भी न रहेगा। लेकिन, त्यागी यदि स्वयं भी न रहे, तब भी उसका उपदेश नष्ट न होगा। सारांश यह, कि इन ... प्रकार के उपदेशो मे से, प्रेमपूर्वक दिया हुआ उपदेश उत्कृष्ट

लेकिन, इस उपदेश के लिए यह आवश्यक है, कि उपदेशक ..य वैसा आचरण करके, आदर्श स्थापित करे। वह त्याग दिखावे। जबतक वह स्वयं त्याग नही दिखलाता, केवल दूसरों

को ही उपदेश देता है, तबतक, उसके उपदेश का भी कोई प्रभाव नहीं होता।

वक्ता पर, जब श्रोताओं की अपूर्व श्रद्धा होती है, तभी श्रोता-लोग ध्यानपूर्वक वक्ता का उपदेश सुनते है। जहाँ, वक्ता के प्रति, लोगों के हृदय मे श्रद्धा का अभाव है, वहाँ वक्ता का वक्तव्य और श्रोता का श्रवण, दोनो ही निरर्थक जाते हैं। महाराजा हरिश्चन्द्र पर, जनता की अपार श्रद्धा थी, अत उनके वक्ता बनकर खडे होने पर, श्रद्धा से ओतप्रोत जनता, ध्यानपूर्वक अपने हितैषी महाराजा का उपदेश सुनने लगी।

पुरुषों से घिरे हुए टीले पर खड़े होकर, महाराजा-हरिश्चन्द्र उनसे कहने लगे—

मेरे प्यारे भाइयो! आप लोग मेरे साथ यहाँ तक आये, और मेरे वियोग से दु खित हो रहे हैं, तथा मेरे साथ सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं, यह आप लोगो का अनुग्रह है; लेकिन, आप लोग इस बात पर विचार कीजिए, की मुझमे आप लोगो को इतना प्रेम होने का कारण क्या है? भाइयो! यह प्रेम मुझ से नहीं, किन्तु सत्य से है। जिस हरिश्चन्द्र के लिए आप इतना दु ख कर रहे हैं, आँसू बहा रहे है, यहाँ तक कि अपना घरबार छोड़ कर, जिसके साथ जाने को आपलोग तैयार हैं, वही हरिश्चन्द्र, यदि असत्याचारी होता, अपने स्वार्थ के लिए आप लोगो को दु ख मे डालता, आपके अधिकारादि की अवहेलना करता, दुराचरण मे पड़कर यही राज्य किसी वेश्या को दे देता, तो आप लोग मेरे जाने से ही प्रसन्न न होते किन्तु स्वयं भी मेरे निकालने का उपाय करते। लेकिन, मैने सत्याचरण किया है, अपने कर्त्तव्य का

पालन करते हुए, इस राज्य को दान मे दिया है, इसीसे आपलोगों की मेरे प्रति श्रद्धा है। ऐसी अवस्था में, आप लोगो का मुझ से यहीं रहने का आग्रह करना, उचित नही है। मेरे यहीं रहने से जो प्रतिज्ञा मैंने विश्वामित्र से की है, वह भङ्ग होगी और प्रतिज्ञा-भंग ही असत्याचरण है। मैं, अबतक आपका राजा रहा हूँ, मेरा इस प्रकार सत्यपालन मे कायरता दिखाना, आप लोगों के लिए भी लज्जास्पद बात है।

अब, आप लोग साथ चलने को कहते हैं, परन्तु आप लोग ही विचारिये, कि आपलोगो के मेरे साथ चलने और नगर को जनशून्य बना देने से, सत्य कलङ्कित होगा, या उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी? विश्वामित्र ने मुझे, केवल स्त्री-पुत्र को साथ ले जाने की आज्ञा दी है, आपलोगों को लेजाने की नहीं। मैंने भी, उनसे यही प्रतिज्ञा की है। फिर, आपके चलने का अर्थ यही हुआ, कि या तो मैंने विश्वामित्र को राज्य नही दिया, या उनसे जो प्रतिज्ञा की थी, वह भङ्ग की। मैं, आप लोगो से प्रार्थना करता हूँ, कि आप लोग प्रसन्नतापूर्वक यहीं रहे, और मेरी चिन्ता न करे। प्रेम, साथ-साथ चलने के बाह्य-आचरण से नहीं, बल्कि सत्यापालन के आन्तरिक-आचरण से किया जाना उचित है। यदि, आपलोगो का मुझपर प्रेम है, तो मै आपसे यही कहता हूँ, कि जिस सत्य के लिए मैंने अपने पूर्वजो के समय से शासित राज्य को दान कर दिया, और पनी राजधानी तथा आप लोगो को छोड़कर जा रहा हूँ, उसी के पालन मे तत्पर रहो। सत्य से, कभी पैर पीछे न [illegible], न उसके पालन मे होनेवाले कष्टो से भय-भीत होओ।

बन्धुओ! आजतक मै राजा रहा और आप लोगो पर शासन

कहता रहा, परन्तु आज से विश्वामित्र राजा हुए है। अब, वेही शासन करेंगे। मैं आशा करता हूँ, कि आप लोग उन्हें भी वैसा ही सहयोग प्रदान करते रहेंगे, जैसा कि मुझे करते रहे हैं।

अब, आप लोग कहते हैं, कि हमे विश्वामित्र के शासन मे दुःख होगा; लेकिन मित्रो! यह केवल आपके हृदय की दुर्बलता-मात्र है। आज तो मैं राज्य को दान मे देकर जा रहा हूँ, इसलिए आप लोग मुझ से ऐसा कह रहे हैं, किन्तु यदि मेरी मृत्यु हो जाती, तो दूसरा शासक आप पर शासन करता या नहीं? वह शासक भी यदि आप लोगो पर अत्याचार करता, तो आप किससे कहते? भाइयो! दुःख केवल दुर्बल-आत्मा को हुआ करता है, सबल-आत्मा वाले मनुष्यों के तो, दुःख कभी समीप ही नहीं फटकता। आप लोग, सत्य के बल को संचय करके बलवान बनिये, फिर किसी की क्या शक्ति है, जो आपको दुःख दे सके। राजा तथा प्रजा का तो ऐसा सम्बन्ध है, कि प्रजा पर अत्याचार करनेवाला राजा, एक क्षण भी राज्यासन पर नहीं ठहर सकता। पहले तो विश्वामित्र स्वयं ही बुद्धिमान हैं, इस समय वे क्रुद्ध होकर चाहे जो कुछ कहे, परन्तु वे नीतिज्ञ हैं, इसलिए प्रजापर कदापि अत्याचार न करेंगे; लेकिन सम्भव है, उन्होंने कभी अत्याचार किया, तो आप भी सत्याग्रह को अपना अस्त्र बनाकर, उससे विश्वामित्र के अत्याचार का प्रतिकार करे। अत्याचार के भय से भागना, वीरो का काम नहीं, बल्कि कायरो का काम है। वीर लोग तो सदा अत्याचार का प्रतिकार ही करते हैं। आप लोग, सूर्य वंशी राजाओं की प्रजा हैं, अतः इस प्रकार कायर बनकर, उन्हे कलङ्कित करना आप लोगों को शोभा नहीं देता।

प्रियवरो ! मेरा राज्य, मेरा देश, मेरी प्रजा और मेरी राजधानी, मै और किसी समय इस आनन्द से नही छोड़ सकता था, जिस आनन्द से आज छोड रहा हूँ। और समय मे, यदि कोई मुझसे छुड़ाना भी चाहता, तो मैं उस छुडानेवाले का प्रतिकार करता, उससे युद्ध करता और उस युद्ध मे मै स्वयं ही आपलोगो से सहायता लेता। परन्तु मै सत्यपालन के लिए उन सब चीजो को—जिन्हे मैं अन्त समय तक किसी दूसरे को न लेने देता—आज प्रसन्नतापूर्वक छोड़ रहा हूँ। कर्त्तव्य और सत्य के आगे, राज्य-वैभव-सुख तृण के समान है और वन-वन के महान् कष्ट, राज-सुख की अपेक्षा अत्यधिक सुख-दाता है। जिस सत्य और कर्त्तव्य के लिए, मै इन सब को छोड़ रहा हूँ, उस सत्य और कर्त्तव्य का, आपलोग भी पालन करे। उस समय आप भी जान जावेगे, कि सत्य और कर्त्तव्य के आगे राज-वैभव कितना तुच्छ है।

अब, मै आप लोगो से यही कहता हूँ, कि आप लोग सत्य-पालन मे मेरी सहायता करिए, उसमे बाधा न पहुँचाइए। आप लोगो का, घर लौट जाना ही उचित है। मुझे, आज ही अवध की सीमा को छोडना है, और सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है। आपलोगो को साथ लेकर, मै कदापि नही जा सकता ; और यदि नहीं जाऊँगा, तो प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होऊँगा, जो मेरे साथ ही ‍के लिए भी कलंक की बात है। मै आशा करता हूँ, कि आप अब मेरे साथ, एक कदम भी न चलकर, अपने-अपने घर ‍ जावेगे। आपके भूतपूर्व राजा की, आपसे अन्तिम प्रार्थना यही है, कि आप आगे बढ़कर, मेरे सत्य को कलंकित न करे।

मैं अब आपको यही आशीर्वाद देता हूँ, और आप भी मुझे यही आशीर्वाद दीजिए, कि हमलोग सत्य-पालन मे दृढ़ रहे।

हरिश्चन्द्र के इस भाषण को, लोग चुपचाप सुनते और आँखो से आँसू बहाते रहे। पशु-पक्षी और वृक्ष भी, हरिश्चन्द्र के इस यथार्थ परन्तु करुणापूर्ण-भाषण को सुनकर, जडवत् खडे हो गये, तो सहृदय-मनुष्यो मे यह शक्ति कब हो सकती थी, कि वे हरिश्चन्द्र के इस कथन का कुछ प्रतिवाद करे। अस्तु।

दूसरी ओर, तारा की सखिये और अन्यान्य स्त्रिये, अपने नेत्रों के जल से तारा के चरण धोती हुई उनसे प्रार्थना कर रही हैं, कि आप न तो राज्य देने ही मे साथ थीं, न दक्षिणा का मांगिक-ऋण लादने मे ही, फिर आप क्यो जाती है? उनके इस-प्रकार प्रार्थना करने पर, तारा यो कहने लगी—

मेरी प्यारी माताओ, बहनो तथा पुत्रियो! यद्यपि मैं आज आप लोगो से एक अनिश्चित समय के लिए बिछुड रही हूँ, परंतु यह सौभाग्य की बात है, कि मै पति की सेवा के लिए जा रही हूँ। मेरे साथ ही, आप लोगो के लिए भी यह प्रसन्नता की बात है, कि आप ही की जाति मे से, तारा नाम की एक क्षुद्र-स्त्री, पति की सेवा के लिए अपने सब सुखो को छोड रही है। यद्यपि आप लोग पातिव्रत के नियमो से जानकार हैं, तथापि इस समय वियोग के दुःख मे पडकर आप उन्हे भूल रही हैं, अत मुझे यहाँ रहने के लिए कह रही है। लेकिन आप ही विचारिए, कि जब मैं उनकी अर्द्धांङ्गिनी हूँ, तो जो दान उन्होने दिया, क्या वही दान मैंने नहीं दिया है? जो ऋण उनपर है, क्या वही ऋण मुझपर नहीं है? फिर वे तो कष्ट सहें और मैं कष्ट से बचने के लिए

यहीं रह जाऊँ, यह कैसे उचित है ? सुख के समय पति के साथ रहकर, दु:ख के समय उनका साथ छोड़ देना, क्या पतिव्रता के लिए उचित है ? बहिनो ! आप लोग तो अपने धर्म पर स्थिर रहे, अर्थात् अपने पति की सेवा करे, और मुझे पति की सेवा-त्याग का उपदेश दे, यह आप लोगो को शोभा नही देता । आप लोग मेरे लिए जो प्रेम दर्शा रही है, यह पतिसेवा का ही प्रताप है। यदि मै पति-सेवा से विमुख होकर, आपके पास आती और कहती कि आप मुझे स्थान दे, तो सम्भवत: ही नहीं बल्कि निश्चिय ही, आप लोग मेरा तिरस्कार करके, मुझे पतित से पतित समझती और मुझे घृणा की दृष्टि से देखती । लेकिन, पति-सेवा के लिए मैं सब सुखो को छोड़कर उनके साथ जा रही हूँ, इसीसे आप लोग मुझसे इस प्रकार रहने के लिए, आग्रह कर रही हैं। जिस पति-सेवा का यह प्रताप है उसे मैं कदापि नही छोड़ सकती और आपसे भी यही प्रार्थना करती हूँ, कि आप लोग यह अनुचित आग्रह न करे । स्त्री का धर्म, केवल पति-सेवा है । वस्त्राभूषण आदि, पतिसेवा के सम्मुख तुच्छ है ।

बहनो ! इससमय महाराजा का साथ छोड़ देने से, मैं तो कलंकिनी होऊँगी ही, परन्तु साथ ही सारा स्त्री-समाज भी कलंकित होगा । सब लोग, मेरे साथ ही, स्त्रीजाति-मात्र को धिक्कारेगे और कहेगे, कि स्त्रिये स्वार्थिनी और कपटी होती है। वे, तभी तक पति का साथ देती है, जबतक पति सुखी है—अर्थात् धन-सम्पन्न है। धन के न रहते ही, और पति के ऊपर किसी का कष्ट आते ही, वे पति को छोड देती हैं । मै, अपने साथ ही सारे स्त्री-समाज को, केवल दु:खों के भय से, यह कलंक नही

लगने दे सकती। मैं, पति के साथ वन-वन भटक कर, जो कष्ट होंगे उन्हें सहती हुई, पति की सेवा करके संसार को यह दिखा देना चाहती हूँ, कि स्त्रियें कैसी विषम-अवस्था मे भी, पति की सेवा नहीं छोड़तीं। जो पुरुष, स्त्रियो को धूर्तिनी आदि समझकर उनका अपमान करते हैं, उन्हे भी मेरे चरित्र से मालूम होगा, कि स्त्रियें क्या है और उनका अपमान करके हम कितना अन्याय करते हैं।

बहनो! आप लोगों का मुझपर जो प्रेम है, वह अवर्णनीय है। इस प्रेम का कारण, मेरी पति-सेवा ही है। इसलिये मेरा आपसे यही कहना है, कि आप लोग पति की सेवा मे सदा रत रहे, इन वस्त्राभूषणादि की अपेक्षा,पति से अधिक प्रेम रक्खे और अन्यान्य धार्मिक-कार्यों की अपेक्षा, पति सेवा को अधिक महत्व दे। स्त्री के लिए, पति-सेवा के समान दूसरा कोई नैतिक-धर्म नहीं है।

बहनो! अब आप लोग मेरे साथ चलने के विचारो को त्यागकर मेरे प्रेम का परिचय, अपने पति की सेवा द्वारा दीजिए। जिन बहनो के पति नहीं है, वे ईश्वर की सेवा करे और अपना सारा समय उसीके भजन मे व्यतीत करें।

बहनो! दिन ढलता जा रहा है, इसलिए आप लोग मुझे आशीर्वाद देकर विदा कीजिए। मै. आपसे केवल यही आशीर्वाद चाहती हूँ, कि किसी भी समय और किसी भी अवस्था मे, मैं पति-सेवा को विस्मृत न करूँ। लेकिन, आप लोग इस बातको ध्यान मे रक्खे, कि आशीर्वाद उन्हीं लोगो का फलदायक होता है, जो स्वयं भी उसके अनुसार कार्य करते हो।

सीता के इस भाषण ने, सब स्त्रियों को आश्चर्य-चकित कर

दिया। वे चित्रलिखित-सी रह गई और अपने आदरों [illegible] लगी। कुछ स्त्रियें, तारा को आभूषण भेंट देने लगीं, परन्तु तारा ने उन्हें यह कहकर लेने से इनकार कर दिया, कि मेरे आभूषण मेरे पति हैं, जो मेरे साथ ही हैं। यदि उनकी अपेक्षा इन आभूषणों को मैं बड़ा समझती, तो मेरे पास के आभूषणों को ही क्यों छोड़ आती?

अवध-निवासी स्त्री-पुरुषों में से, बहुतों की इच्छा राजा-रानी के साथ जाने की थी, परन्तु दोनों के भाषणों को सुनकर, उनके ये विचार बदल गये। उनके साथ जाने की अपेक्षा अयोध्या में रहकर, सत्य और कर्त्तव्य के पालन को ही, उन्होंने अच्छा समझा। सबने प्रसन्नचित्त से, उच्चस्वर से महाराजा-हरिश्चन्द्र और महारानी तारा की जय का गगनभेदी घोष किया।

महाराजा-हरिश्चन्द्र, रोहित और रानी, उस कोलाहलमय जनसमूह से बाहर निकलकर, वन की ओर चले। उन्हें, इस प्रकार जाते देख, सबलोग विलाप करने लगे, परन्तु फिर किसी ने, राजा का पीछा करना उचित न समझा। उन लोगों के विलाप को सुनकर, पशु-पक्षी भी विकल होने लगे और राजा तथा रानी के भी आँसू निकल पड़े, लेकिन उन्होंने, सत्यरूपी-रुमाल से उन्हें तत्क्षण पोंछ डाला।

वे राजा और रानी, जिनकी सवारी के लिए अनेक वाहन उपस्थित रहते थे, महल से बाहर निकलने पर हजारों सेवक साथ रहते थे, जिनके आगे-आगे वन्दीजन यशगान करते चलते थे, जिनको प्रणाम करने के लिए प्रजा, पंक्तिबद्ध मार्ग पर खड़ी होती थी, आज पैदल, नंगे पाँव और अकेले ही वन को जा रहे हैं।

वे रानी, जो आभूषण के भार से ही थकी-सी जान पड़ने लगती थीं, आज बालक रोहित को गोद मे लिये, पति के पीछे-पीछे चल रही हैं। जिनके पैर रखने के लिए पुष्प बिछाये जाते थे, वे, ही आज कँटीले और पथरीले मार्ग पर चल रहे हैं। इतना सब-कुछ होते हुए भी, इस वीर-दम्पति के मुँह पर, चिन्ता की एक रेखा तक नहीं है। बालक रोहित भी, चुपचाप माता-पिता के साथ चला जा रहा है।

जबतक, राजा और रानी, वृक्षों की ओट मे आकर दीखना बन्द न हुए, तबतक प्रजा बराबर उन्हीं की ओर टकटकी बाँधकर देखती और विलाप करती रही। जब, वे दृष्टि से अदृश्य होगये, तब सब लोग उसी प्रकार मन मारकर घर लौटे, जिस प्रकार कोई अमूल्य-पदार्थ खोकर लौटता है।
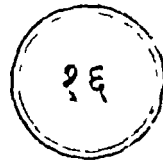
वन के पथिक
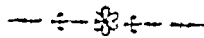
संसार का यह नियम है, कि एक दुःखी आदमी अपने दुःख से उतना नही घबराता, जितना एक सुखी-मनुष्य दुःख पड़नेपर घबराता है। जो नीचे ही है, वह यदि गिरे, तो उसे उतनी चोट नही पहुँचती, जितनी चोट ऊपर से गिरने वाले को पहुँचती है। इसीके अनुसार हरिश्चन्द्र और तारा, जिन्होंने अपनी आज की अवस्था की कभी कल्पना भी न की थी, जो यह भी न जानते थे, कि नगे पॉव पैदल वन के मार्ग मे चलना कैसा होता है; उनको आज दीन-वेश मे, नंगे पॉव वन के कण्टकाकीर्ण-पथ पर चलने से अधिक कष्ट होना चाहिए था, परन्तु ये लोग न मालूम कैसे वज्र निर्मित हैं, कि इनको नाममात्र का भी दुःख नही है, वरन् प्रसन्न-चित्त हैं।

पुत्र सहित राजा-रानी, अवध को अन्तिम प्रणाम कर, काशी जाने के लिए वन की ओर चल दिये। मार्ग मे, रोहित को कभी ले लेते हैं और कभी वह स्वयं ही पैदल चलने लगता है। ।। और रानी के कोमल-पैरो में, कॉटे और ककर चुभते जाते २, जिससे खून निकल-निकल कर, पैरो मे इस प्रकार लग रहा है, जैसे पॉवो मे मेहँदी लगाई हो।

राजा और रानी का, प्रजा को समझाने-बुझाने में बहुत समय व्यतीत होगया था, जिससे सूर्यास्त होने में कुछ ही समय बाकी रह गया था। अवध से, इनके थोड़ी दूर जाते ही सूर्य इस प्रकार अस्त होगया, जैसे इनका दुःख देखना उसे असह्य हो रहा हो।

रात का समय है। भयानक-जङ्गल साँय-साँय कर रहा है। जिन राजा-रानी के कानों में, सदा मधुर-मधुर बाजों और गानों का शब्द पड़ा करता था, वे ही वन के पशुओं के शब्द सुन रहे हैं। वह बालक, जो रात के समय हिंडोले पर झूला करता था, भयानक वन में कभी माता और कभी पिता की गोद में चिपटा चला जा रहा है और उन पशुओं के शब्द तथा सन्नाटे में वृक्षों की कुरमुराहट, सुन रहा है। अँधेरा होने से मार्ग नहीं दीखता, इससे कभी-कभी किसी का पाँव ऊँचा-नीचा पड़ता जाता है। ऐसे समय में, पति पत्नी का और पत्नी पति का हाथ पकड़कर एक-दूसरे की सहायता करते जाते हैं। राजा और रानी, दोनों के पैर काँटे लगने के कारण खून से भर गये हैं, परन्तु दोनों ही चुप हैं। रानी तो यह विचार कर चुप हैं, कि यदि मैं कहूँगी, तो पति के हृदय को दुःख होगा और ये कहेंगे कि मेरे ही कारण से तुम्हें दुःख हो रहा है। और राजा विचारते हैं, कि जो कष्ट मुझे हो रहे हैं, वे ही रानी को भी होते होंगे, फिर रानी स्त्री होते हुए उन कष्टों को चुपचाप सह रही है तो मैं तो पुरुष हूँ। मैं क्यों कायरता प्रकट करूँ। रानी, स्वयं कष्ट सहकर मेरे लिए आदर्श उपस्थित करती है और इस प्रकार मुझे धैर्य की शिक्षा प्रदान कर रही है

बालक को लिये हुए दोनो पथिक, जैसे-तैसे एक वृक्ष के समीप पहुँचे। दिनभर से भूखे तो थे ही,इस समय भी पास कुछ न था, जो खाते। इसलिए, चुपचाप उसी वृक्ष के नीचे सो रहे हिंसक पशुओ से रक्षा के लिए, कुछ देर राजा जागते रहे और कुछ देर रानी। इसप्रकार, अनेकों सेवको से सुरक्षित महलों के रहनेवाले, कोमल-शय्या के सोनेवाले राजा-रानी और रोहित ने, वन के मध्य, एक वृक्ष के नीचे भूमि पर कुछ देर सोकर और कुछ देर जागकर रात बिताई।

अरुणोदय के समय,राजा-रानी उठ बैठे। परिश्रम के कारण एक तो वैसे ही दोनो के मुख,लाल होरहे थे,ऊपर से अरुणोदय की लोली, उनके चेहरे पर पड़कर, उन्हे ऐसे लाल बना रही थी,जैसे पूर्णिमा के दो चन्द्र उदय हुए हों।

राजा और रानी, परमात्मा का स्मरण करके उसे धन्यवाद देने लगे, कि तेरी ही कृपा से हम कर्त्तव्य तथा सत्य के पालन एवं कष्ट सहन करने मे समर्थ हुए हैं। जहाँ अन्य लोग दुःख के समय परमात्मा को कोसने लगते है, वहाँ हरिश्चन्द्र और तारा धन्यवाद दे रहे है। वे लोग अपने आपको कष्ट मे नहीं समझ रहे हैं,किन्तु यह समझ रहे हैं 'कि हम सत्य की परीक्षा दे रहे हैं।'

परमात्मा के स्मरण से निवृत्त हो, राजा और रानी, रोहित लेकर फिर मार्ग तय करने लगे। बारह पहर से अधिक व्यतीत हो चुका है, तब से ये लोग भूखे ही है। कुछ दूर चलने पर, बालक के स्वभावानुसार, रोहित को भूख लगी। भूख तो कल भी लगी थी, पर वह भूख रोहित के लिए सह्य थी और आज की भूख असह्य है। वह तारा से खाने के लिए

माँगने लगा, परन्तु तारा के पास मौखिक-आश्वासन के सिवा और क्या था, जो देती ? बालक के अधिक कहने-सुनने पर तारा ने वन के थोड़े से जङ्गली-फल तोड़कर रोहित को दिये, परन्तु रोहित को ये फल कब अच्छे लग सकते थे, जो वह खाता ? उसने, उन फलों को चखकर फेंक दिया और मा से फिर खाने को माँगने-लगा।

समय की गति बलवान है। जो राजा और रानी, नित्य दूसरों को भोजन बाँटा करते थे, जिनके आश्रय से हज़ारों मनुष्य नित्य भोजन पाते थे, वे ही राजा-रानी, आज दो दिनों से स्वयं ही भूखे हैं। जिस रोहित के लिए, अनेकानेक भोज्य-पदार्थ सदा विद्यमान रहते थे, जो उन्हें आग्रह करने पर भी नहीं खाता था, अमृत के समान स्वादिष्ट फलों को जो अपने साथ खेलनेवाले बालकों को बाँट दिया करता था, वही बालक रोहित, आज भूख से विकल हो रहा है और उसे वे जङ्गली फल खाने को मिल रहे हैं, जिनको उसने कभी देखा भी न था।

सन्तान के क्षुधातुर होने और भोजन माँगने पर न दे सकने के कारण, माता-पिता को कितना खेद होता है, यह बात सभी जानते हैं। हरिश्चन्द्र और तारा को भी, रोहित के भूख-भूख चिल्लाने से बड़ी दुःख हो रहा है, परन्तु इसका उपाय क्या ? तारा, रोहित को आश्वासन देती जा रही है, कि देखो आगे तुम्हें भोजन देती हूँ, परन्तु यह आश्वासन कब तक काम कर सकता था ?

हरिश्चन्द्र, पुत्र की दशा से विकल हो रहे थे। वे मन ही-मन पछता रहे थे, कि मैं कैसा अभागा-पिता हूँ, जो अपने स-

पीड़ित-बालक का दु.ख भी निवारण नही कर सकता ! इन लोगों को, इस प्रकार कष्ट मे डालने का कारण मैं ही हूँ, परन्तु इस समय मै क्या कर सकता हूँ ?

राजा, एक तो दो-रोज से भूखे थे, दूसरे चलने से भी अत्यधिक थक गये थे, तीसरे गर्मी के मारे प्यास से कण्ठ सूखा जा रहा था। ऊपर से, बालक की क्षुधा का दु.ख, उन्हे और भी अधीर किये देता था। वे, चलते-चलते एक वृक्ष के नीचे, मूर्छित होकर गिर पड़े। तारा, पति की यह दशा देख, घबरा उठीं। उधर रोहित भी अपनी भूख भूल, तारा से पूछने लगा, कि पिताजी क्यो गिर गये ? तारा ने, रोहित को राजा के पास बैठा दिया और उसके हाथ मे पत्ते देकर कहा—बेटा, तुम अपने पिता पर पवन करो। रोहित, अपने छोटे-छोटे हाथो से पिता पर पवन करने लगा और रानी, राजा के लिए जल की चिन्ता करने लगी।

आवश्यकता, आविष्कार की जननी है। बिना आवश्यकता के, आविष्कार नहीं होता। घर बनाना, भोजन बनाना, कपड़े बनाना आदि प्रत्येक आविष्कार, आवश्यकता के कारण ही हुए हैं। बिना आवश्यकता का अनुभव किये, किसी आविष्कार की आवश्यकता नही प्रतीत होती। रानी, यद्यपि राजमहल की रहने वाली थी, वन कैसा होता है, उसके वृक्ष कैसे होते है तथा उनपर प्रकार चढ़ा जाता है, और दोने किस प्रकार बनाये जाते हैं, आदि बाते वे न जानती थी, लेकिन जल की आवश्यकता ने उन्हे वृक्ष पर चढ़ना और दोना बनाना भी सिखा दिया। रानी को, जब इधर-उधर जल न देख पड़ा, तब वे, एक वृक्ष पर चढ़कर जलाशय देखने लगीं। थोड़ी दूरी पर उन्हे एक सरोवर

दृष्टि पड़ा। वे वृक्ष से उतरकर, दौड़ती हुई उस सरोवर पर गईं और उसी में से एक कमल का पत्ता तोड़, उसका दोना बना, उसमें जल भरकर पति के पास लाईं।

रानी को, पैदल चलने का यह पहला ही अवसर है। वे, दो-दो दिन से भूखी हैं, पैरों में काँटों के लगने से असह्य-पीड़ा अनुभव कर रही हैं, परन्तु इन सब बातों की कुछ भी परवाह न कर, पति के लिए दौड़कर पानी ले आईं। यदि, आज की स्त्रियों की तरह तारा होतीं, तो सम्भवतः पहले तो इन सब दुःखों को सहन करने को तैयार ही न होतीं। कदाचित तैयार भी हो जातीं, तो वन के मध्य पति की इस दशा को देखकर, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जातीं। परन्तु, तारा ने, ऐसी अवस्था में भी धैर्य और दृढ़ता न छोड़ी।

रानी ने, जल लाकर पति के मुँह पर छिड़का। शीतल-जल के छींटों से, राजा की मूर्छा दूर हुई और आँखें खुलीं। राजा की आँखें खुलते ही, रानी ने कहा—नाथ, जल पीजिए।

राजा ने जल पिया। तृषा दूर होने और शान्ति मिलने पर राजा ने पूछा—प्रिये! इस निर्जन-वन में, यह जल तुम कहाँ से लाईं? इस जल ने तो इस समय मेरे लिए अमृत का गुण किया है।

तारा—प्रभो! मैं इसे समीप ही के एक सरोवर से लाई हूँ।

हरिश्चन्द्र—प्रिये, मैं तुम्हें साथ नहीं लाना था, परन्तु अब मैं अनुभव करता हूँ, कि यदि तुम साथ न होतीं, तो मेरी दुःख की रात पार नहीं हो सकती थी। तुम, मेरे लिए अद्वितीय-सहचरी सिद्ध हुई हो।

तारा—स्वामिन्! मेरे पास सुख है, तभी तो मैं सुखदात्री हूँ न?

हरिश्चन्द्र—हाँ, यदि तुम्हारे पास सुख न होता, तो तुम सुखदात्री कैसे हो सकती थीं?

तारा—प्रभो! आप दुःख से घबरा जाते हैं, अतः आपके पास जो दुःख है, वह आप मुझे दे दीजिए और मेरे पास जो सुख है, वह आप ले लीजिए।

हरिश्चन्द्र—यह कैसे हो सकता है? सुख-दुःख कोई पदार्थ तो है नहीं, जो बदल लिए जायँ। मुझे तो यह आश्चर्य होता है, कि तुम इस दशा में भी अपने को सुखी मान रही हो। सुख को, दुःख से बदलने का उपाय क्या है, उसकी कुञ्जी क्या है, यह बताओ और यह भी बताओ, कि तुम ऐसे कष्ट सहती हुई भी अपने आपको सुखी कैसे मान रही हो, तथा तुम्हें दुःख से घबराहट क्यों नहीं होती?

तारा—नाथ, जिस समय आपने राज दान करने का समाचार सुनाया—उस समय दुःख मुझे पीसने आया था। आप ही विचारिए, कि इस समाचार को सुनने पर, कैसे-कैसे वीर भी दुःखित हो सकते हैं? दुःख मुझे पीसने तो आया, परन्तु मैंने जान लिया, यह मेरा शत्रु है। शत्रु के समझ लेने पर, सब उससे सावरहते और उसे जीतने का उपाय करते ही हैं। इसीके अनुसार, मैंने दुःखरूपी शत्रु को—जिसे कि मैं उस समय तक जानती ही न थी—जीतकर कैद कर लिया। यदि, मैं उससे भय खा जाती, अर्थात् परास्त हो जाती, तब तो वह मुझे पीस ही देता, परन्तु मैं, उससे भय-भीत नहीं हुई। अब, जब से मैंने

इसे कैद कर लिया है, वह शत्रुता की जगह मेरा उपकार कर रहा है और मुझे ऐसे-ऐसे काम करना सिखा रहा है, जिन्हें करना मैं न जानती थी।

रानी की बात सुनकर, राजा बहुत ही प्रसन्न हुए और रानी को धन्यवाद दे कहने लगे, कि मैं समझता था, कि तुम राज्य आदि छूटजाने और इस प्रकार भूखे रहकर जङ्गल मे चलने के दुःख से दुःखित हो जाओगी, परन्तु तुम तो इस समय भी अपने आपको सुखी बता रही हो।

तारा—प्रभो, मैं दुःखित तो तब होऊँ, जब आपका राज्य छूटा हो। आपका राज्य छूटा नहीं है, बल्कि कृत्रिम-राज्य के बदले अलौकिक और वास्तविक-राज्य प्राप्त हुआ है।

हरिश्चन्द्र—तारा, यह तो तुम अत्युक्तिपूर्ण बात कह रही हो।

तारा—नहीं नाथ, मैं आपको बताती हूँ, कि आपका वह राज्य कृत्रिम कैसे था और इस समय का राज्य कैसे अकृत्रिम है। आप, जहाँ सोने के उस सिंहासन पर बैठते थे, जिसके छिनजाने आदि बातों का सदा भय बना रहता था, वहाँ आप कुश के इस सिंहासन पर बैठे हैं, जिसके विषय मे किसी प्रकार का भय नहीं है। कभी आप यह कहें, कि राजा लोग कुशासन पर नहीं बैठते सिंहासन पर ही बैठते हैं; परन्तु वे राजा कुशासन की उत्तमता को नहीं जानते। आपने उस सोने के सिंहासन की अपेक्षा इस कुशासन को बड़ा समझा, इसीसे उसे त्यागकर इसे अपनाया है।

हरिश्चन्द्र—यह तो तुमने ठीक कहा।

तारा—स्वामी, उस राज्य मे आप पर जो चवॅर ढुला करता था, वह तभीतक पवन करता था, जबतक कि कोई उसे हिलाता रहता था। हिलाना बन्द होते ही, वह पवन देना भी बन्द कर देता था। लेकिन, यह प्राकृतिक-पवन ऐसा चवॅर है, कि सदैव हिला करता है और इसी के दिये हुए पवन से मैं, आप तथा सारा संसार जी रहा है। वह चवँर तो केवल आप ही को पवन देता था और उसके न होने से संसार का काम चल सकता है, परन्तु यह चवॅर तो सबको पवन देता है और इसके दिये हुए पवन के बिना, कोई जीवित नही रह सकता। इस प्रकर, उस कृत्रिम चवॅर की अपेक्षा यह अकृत्रिम-चवँर विशेष आनन्द का दाता है।

प्रभो, उस राज्य में आपके सिर पर जो छत्र रहता था, वह तो आडम्बर था, वास्तविक छत्र नही। इसके सिवा, वह छत्र केवल आप ही पर छाया रखता था, परन्तु यह वृक्षरूपी छत्र आडम्बर-रहित और सब पर छाया रखनेवाला है। उस छत्र की छाया के बिना सबको दु:ख नही हो सकता, परन्तु इस छत्र की छाया के बिना, मनुष्य पशु पक्षी, आदि सब दु खी हो सकते है।

आपके उस राज्य में, सब जीव आपसे भय खाते थे, वह ज्य क्रोध, अहङ्कार आदि पैदा करनेवाला था, परन्तु इस राज्य ा, अहङ्कार, वैर अदि का नाम भी नही है। यह राज्य का है। देखिये, ये हरिण आपकी ओर कैसी आँखे फाडकर प्रेम से देख रहे हैं। आप, जब उस राज्य के स्वामी थे, तब कभी हरिण इस प्रकार निर्भय आपके राजसिंहासन के समीप आते थे ?

नाथ, उस राज्य में गायकगण आपको कृत्रिम गाना सुनाते थे, बन्दीजन आपकी अत्युक्तिपूर्ण-प्रशंसा करते थे. परन्तु इस राज्य में पक्षीगण आपको अकृत्रिम-गान सुनाते हैं। अब आप ही बतलाइए, कि इस राज्य की समानता वह राज्य कैसे कर सकता है ? उस राज्य में यदि कुछ लोग आपके हितचिन्तक थे, आपसे प्रेम करते थे, तो कुछ लोग आपके अहितचिन्तक और आपसे ईर्ष्या करनेवाले भी रहे होंगे; परन्तु इस राज्य में आप से ईर्ष्या करनेवाला कोई भी नहीं है।

रानी की बात सुनकर, राजा उनकी बुद्धि और उनके धैर्य पर प्रसन्न हो उठे। वे कहने लगे—रानी, तुमने तो इस दशा में भी मुझे एक राज्य से भी अच्छे राज्य का स्वामी बनाया। तुम स्त्री नहीं, वरन एक शक्ति हो। तुमने, मुझे शक्ति प्रदान की, तभी मैं उस राज्य को त्यागकर, इस राज्य को प्राप्त कर सका हूँ। वास्तव में, तुमने मेरे दुःख को नष्ट ही कर दिया। अब मुझे दुःख नहीं रहा, इसलिये चलो चलें। मार्ग तो चलने से ही कटेगा।

का पालन न कर सकेगा; परन्तु राजा को सत्यपालन के लिए
इस प्रकार कष्ट सहते देख, वह आश्चर्यचकित हो गया। इस समय
उसने विचारा, कि इन्हे राज्य छूटने आदि का कैसा दुःख है,
इसकी परीक्षा मैं स्वयं लूँ। इस विचार से, वह एक वृद्धा का
रूप धारण करके, सिरपर लड्डुओं का पिटारा रख, हरिश्चन्द्र और
तारा के साथ हो गया। वह एक लड्डू हाथ में ले, रोहित को
बताकर उसे ललचाता था और विचारता था, कि देखे रोहित जो
भूख से विह्वल है, तथा राजा-रानी, जो अपने पुत्र की भूख से
दुःखित हैं, लड्डू माँगते है, या नहीं। रोहित, अपने साथ की वृद्धा
को लड्डू बताते देख, अपनी माता की ओर देखने लगा। तारा
ने रोहित से कहा—बेटा, ऐसे लड्डू तो तुम नित्य ही खाते थे
और अब आगे चलकर और भी खाओगे।

माता-पिता के ही स्वभाव का संस्कार, बालकों मे हुआ करता
है। जिनके माता-पिता स्वयं माँगना नहीं जानते, वे बालक भी
प्रायः ऐसे ही हुआ करते हैं। ऐसे बालकों को, यदि कोई स्वयं
भी कुछ देने लगता है, तो वे नहीं लेते, माँगना तो दूर रहा।
रोहित बालक है, आज दो दिनों से भूखा भी है, परन्तु
उसने उस वृद्धा से लड्डू नहीं माँगा, न माँ से ही कहा कि तुम
माँग दो।

वृद्धा, अपने लड्डू वाले हाथ को रोहित के समीप इस तरह
है, मानो उसे लड्डू दे रही हो, परन्तु जिस तरह कोई
-वस्तु की ओर नही देखता, उसी तरह रोहित ने भी, माता
की बात सुनने के पश्चात् उसकी ओर नहीं देखा, न हरिश्चन्द्र या
तारा ने ही उससे कहा, कि तू मेरे भूखे बालक को एक लड्डू

गंगे, तू जिस प्रदेश मे होकर निकली है, उन प्रदेशो को हरा-भरा बनाकर, वहाॅ के लोगो को सुख देती गई है। मै भी अवध से काशी आया हूँ, परन्तु यहाॅ के लोगो को, मै क्या शान्ति प्रदान कर सकूँगा, यह नही कह सकता।

उधर रानी कह रही है—गंगे! तेरा नाम भी स्त्रीवाचक है और मैं भी स्त्रियों में से हूँ। मैं, अब अपनी और तेरी तुलना करती हूँ।

जिसप्रकार तू हिमालय से निकलकर समुद्र को जाती है, उसीप्रकार हम स्त्रिये भी पीहर को छोड़कर, ससुराल जाती हैं। जिस तरह तू अपने एक समुद्र को छोड़कर दूसरे मे जाने का विचार नही करती, उसी तरह हम भी एक ससुराल छोड़कर दूसरी में जाने का विचार नही करती। जैसे तू समुद्र मे जाकर मिल जाती है; दूसरी नही जान पड़ती, उसी तरह हम भी ससुराल मे जाकर मिल जाती हैं, दूसरी नहीं जान पड़ती। जिस तरह तू अपने उद्गम स्थान पर तो कलकल करती है, परन्तु समुद्र मे पहुँच कर, शान्त और गम्भीर बन जाती है, उसी तरह हम भी पीहर मे तो कलकल करती हैं; परन्तु ससुराल मे शान्त और गम्भीर बन जाती हैं। जिसप्रकार तेरी एक धारा से तू पावन कहाती है, उसी प्रकार हम में भी जो एक धारा हैं, वे पावन कहाती हैं। जिस प्रकार तू नि:स्वार्थ-भाव से मे जाती है, उसी प्रकार हम भी नि स्वार्थ-भाव से ससुराल जाती हैं। जैसे तू अविराम बहती और उस बहाव मे बाधा पहुँचानेवाले का विरोध करती रहती है, उसीप्रकार हम भी पति-सेवा तथा उनके हित-चिन्तन में संलग्न रहतीं और उसमें
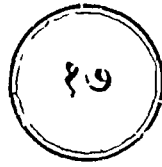
काशी में

—✻—

निन्दतु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीःसमाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

अर्थात्—नीतिनिपुण-मनुष्य निन्दा करे, चाहे स्तुति करे। लक्ष्मी आवे, अथवा स्वेच्छानुसार, चली जावे,। चाहे आज ही मृत्यु हो जाय, या युगान्तर मे हो। किन्तु धीर मनुष्य न्याय-मार्ग से एक कदम भी विचलित नहीं होते।

ऊपर, जो श्लोक कहा गया है, इसीके अनुसार हरिश्चन्द्र ...ा और रोहित, दो दिन से भूखे होते हुए, तथा पास मे एक ... न होते हुए भी, किसी से भीख मॉगने, या और अनुचित- ...से, अपनी क्षुधा मिटाने का विचार भी नहीं करते। इस प्रकार कष्ट सहकर भी, नीति को न छोड़ने से ही, अनेक युग बीत जाने पर भी, लोग हरिश्चन्द्र और तारा की प्रशंसा करते, तथा उनके चरित्र को पठन-श्रवण करते हैं।

हरिश्चन्द्र—मैं यहाँ से धर्मार्थ मिलनेवाला भोजन भी नहीं कर सकता, न बिना किराया दिये रह ही सकता हूँ। मैं जिसतरह अपना उदरपोषण करूँगा, उसी प्रकार से किराया भी दूँगा।

व्यवस्थापक—ऐसा क्यों ?

राजा—इसलिए, कि मैं दीन हूँ, परन्तु भिखारी नहीं।

व्यवस्थापक—क्या तुम्हारे स्त्री-पुत्र या केवल पुत्र भी यहाँ भोजन न करेंगे ।

राजा—नहीं ।

व्यवस्थापक—पुत्र तो अभी बालक है उसे भोजन करने देने में क्या हर्ज है ?

राजा—एक समय का भिक्षा का या धर्मार्थ मिला हुआ भोजन भी, संस्कारों में अन्तर डाल सकता है ।

राजा की बातें सुनकर, व्यवस्थापक बहुत ही प्रसन्न हुआ। वह मन-ही-मन कहने लगा, कि यद्यपि ये हैं तो दीन, परन्तु हैं कोई नीतिज्ञ और भले आदमी। उसने, उन्हें अपनी धर्मशाला से जाने देना उचित न समझा और एक छोटा-सा स्थान बतलाकर उसका किराया भी कह दिया। स्त्री-पुत्र सहित राजा, उस छोटी-सी कोठरी में गये। राजा ने, तारा से कहा—तुम 'जबतक इसे झाड़-बुहार कर साफ करो, तबतक मैं नगर से उद्योग द्वारा कुछ भोजन-सामग्री ले आऊँ ।

जिन राजा के यहाँ सदैव हजारों मजदूर काम किया करते थे, वे ही राजा, मजदूरों के दल में सम्मिलित हो मजदूरी कर रहे हैं। और जो रानी, सदैव हजारों दास-दासियों पर आज्ञा करती थीं, वेही आज अपने हाथ से झाड़ू निकाल रही हैं।

रानी—मै मजदूरनी हूँ। पीसना, कूटना, बरतन माँजना, कपड़े धोना आदि सब कार्य करना जानती हूँ और प्रत्येक कार्य अच्छा तथा बहुत शीघ्रता-पूर्वक कर सकती हूँ।

तारा की इस बात ने, उन स्त्रियो के हृदय मे और भी करुणा उत्पन्न करदी। वे कहने लगी, कि तुम मजदूरनी तो नही जान पड़ती, हाँ, विपत्ति की मारी चाहे मजदूरी करने लगी होओ। हमे तुमसे मजदूरी कराना उचित नही प्रतीत होता, अत. हम तुम्हे वैसे ही, जो चाहिए सो दिये देती है।

रानी—आपकी दृष्टि मे, यदि मै सम्मान के योग्य हूँ, तो आप लोग मुझे भिखमंगी न बनाइए, और कोई मजदूरी का कार्य देने की कृपा कीजिए। यदि कोई कार्य न हो, तो नाही कर दीजिए, जिसमे मुझे देर न हो। क्योकि मे स्वयं भी भूखी हूँ, तथा बालक भी भूखा है। देर करने से, हमें भोजन बनाने मे भी देर होगी, जिसका परिणाम यह होगा, कि हमे अधिक समय तक भूख सहनी पड़ेगी। मै, बिना मजदूरी किये तो आप लोगो से कुछ नही ले सकती।

स्त्रियो ने जब समझ लिया, कि यह ऐसे न लेगी, तब उन्होंने तारा को कुछ काम दिये। तारा ने, उन कार्यो को इतना शीघ्र और इतनी कुशलतापूर्वक किया, कि सब स्त्रिये तारा की कार्यकुशलता पर मुग्ध हो गई। उन्होने तारा को मजदूरी दी। मजदूरी

तारा ने, भोजन बनाने की सामग्री खरीदी और शीघ्रता से भोजन बनाकर रोहित को परसा। सदा के अनुसार, रोहित माता से कहने लगा, कि तुमभी भोजन करो, परन्तु तारा ने उसे समझाया, कि तेरे पिता के आ जाने पर मैं भी भोजन करूँगी।

अन्यायवृत्ति से भोजन-सामग्री लाये है, न मैं ही अन्यायवृत्ति से लाई हूँ। आपकी लाई हुई भोजन-सामग्री शेष रहेगी। गृहस्थी का कर्त्तव्य है, कि अल्प संचय करे, तो अपने यहाँ भी कम से कम एक-दो समय की भोजन-सामग्री, तो शेष होनी ही चाहिए। स्वामी, हमलोगो को अब किसी प्रकार का कष्ट नही हो सकता। क्या आप और मै दोनो मिलकर, अपना पेट भरने के लिए भी न कमा सकेंगे ?

रानी की बात सुनकर, राजाको सन्तोष हुआ। वे आश्चर्य-पूर्वक कहने लगे—तारा, तुमने तो गजब कर दिया। तुम-सी स्त्री पाकर मैं कृतार्थ हुआ।

वे राजा और रानी, जो कुछ ही दिन पहले, राज्य-वैभव मे, अच्छे-अच्छे भोजनो मे और महलो के निवास मे सुखी थे, अब गरीबीपूर्ण-जीवन मे, रूखे-सूखे भोजन मे, और धर्मशाला की एक छोटीसी किराये की कोठरी मे ही सुख मानते हैं। जिनके कार्यों मे हजारो मजदूर लगे रहते थे, वे स्वयं आज मज-दूरी करते और ऐसा करते हुए भी अपने-आपको सुखी समझते हैं। इस गरीबी को दूर करने के लिए, किसी अन्यायपूर्ण कार्य करने की इच्छा,कभी स्वप्न मे भी नही करते। इसीलिए नीति-ारो ने कहा है, कि धीर-मनुष्य चाहे जैसी परिस्थिति में हो, वे कभी भी न्यायमार्ग नही छोड़ते। अस्तु।

राजा और रानी, इसी प्रकार मजदूरी करके, सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने लगे। रानी, अपने गृहकार्य से निवृत्ति पाकर, पड़ोस के घरो मे मजदूरी करने जाती और राजा सबेरे ही जाकर, मज-दूरो के दल मे सम्मिलित होजाते। राजा और रानी को देखकर

ही नहीं है, या दिवाला निकाल देते हैं—और एक हरिश्चन्द्र हैं; जिन्होंने विश्वामित्र से ऋण नहीं लिया है, केवल दक्षिणा देना जबान से कह मात्र दिया है, तब भी उन्हें देने की चिन्ता है। इस अन्तर का कारण यही है, कि आज के ऐसा करने वाले लोगों ने तो अन्यायवृत्ति को अपना साधन मान रखा है, लेकिन हरिश्चन्द्र को न्यायवृत्ति ही प्रिय थी।

महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा, यद्यपि मजदूरी करते हुए, आनन्द-पूर्वक दिन व्यतीत करते है, भोजनादि मे उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है, परन्तु विश्वामित्र का ऋण उन्हें चैन नहीं लेने देता। इनके पास, एक हजार स्वर्णमुद्रा के स्थान पर एक पैसा भी नहीं है। जहाँ आज के लोग, पास होते हुए भी, लिया हुआ ऋण देने से इनकार कर देते हैं, वहाँ हरिश्चन्द्र, पास मे कुछ न होते हुए भी ऋणमुक्त होने को चिन्तित हैं। यदि वे चाहते, तो अपने वचन-दान की रकम अदा करने से इनकार कर देते, परन्तु वे सत्यवादी थे। सत्यवादी मनुष्य, मुँह से कही हुई बात को पूरी न करना जानते ही नहीं। इसीलिए इन्हे इस ऋण की पूर्ण चिन्ता है। यद्यपि ऋण की चिन्ता राजा और रानी दोनों को है, परन्तु रानी अपनी चिन्ता दबाये हुए हैं और राजा की चिन्ता उनकी आकृति पर भी, अपना प्रभाव जमाये हुए है। इस चिन्ता से, वे सदा व्यथित रहते हैं। एक दिन, इसी चिन्ता निमग्न दशा मे, राजा को नींद आगई। कुछ देर पश्चात्, वे सोते से एक दम चौंक कर बैठ गये और फिर चिन्ता-सागर मे निमग्न हो गये। पति को इस प्रकार चौंकते देख, रानी ने उन से चौंकने का कारण पूछा। हरिश्चन्द्र कहने

लगे—प्रिये, विश्वामित्र का ऋण मुझ पर लदा है, वह बोझ मुझे किसी समय भी शान्ति नही लेने देता।

ज्ञानी के सन्मुख, जब कोई अपना दु.ख कहने लगता है, तब ज्ञानी, उस दु:खी के दु ख को सान्त्वना और धैर्य देकर कम कर देते है, परन्तु मूर्खलोग, उस दु ख को और भी बढ़ा देते हैं। बहुत से लोग ऐसे भी सुने जाते है, जो किसी के अपना दु ख कहने पर, उससे सहानुभूति प्रकट करना तो दूर रहा, उल्टे या तो अपना ही दु ख रोने लगते हैं, या अनावश्यक उपदेश देने लगते हैं। लेकिन तारा बुद्धिमती थी, उन्होने ऐसे समय मे पति को धैर्य बँधाना ही उचित समझा।

पति की बात सुन कर, तारा कहने लगी—नाथ, आप ऋण की चिन्ता क्यो करते हैं ? जैसा ऋण आप पर है, वैसा ही ऋण मुझ पर भी तो है। फिर आप अकेले चिन्ता क्यो करे ? किसी न किसी प्रकार ऋण से भी मुक्त हो ही जावेगे।

हरिश्चन्द्र—लेकिन ऋण से मुक्त होगे कैसे ? अपनी आय तो केवल इतनी ही है, कि उसमें अपना ही निर्वाह हो, फिर एक-सहस्र स्वर्णमुद्रा कहाँ से आवेगी, जो ऋण दिया जा सकेगा ?

तारा—स्वामी, आप जब अयोध्या से चले थे, तब आपके पास खाने को तो कुछ भी नही था, न यही आशा थी. कि काशी में हमे कुछ मिल जायगा। फिर यहाँ आपका काम किस प्रकार चल रहा है, कि आप भी भोजन करते हैं और—गृहस्थियो का कर्त्तव्य पालन करते हुए—अतिथि-सत्कार भी करते हैं ?

राजा—उद्योग से।

तारा जिस उद्योग से खाने को मिल रहा है, उसी उद्योग

से ऋण भी दिया जावेगा। आप चिन्ता क्यों कर रहे हैं?

राजा—यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ, कि उद्योग द्वारा हमारी जो आय है, वह इतनी नहीं है, कि उसमे जीवन-निर्वाह भी कर सके और ऋणमुक्त भी हो सके। फिर किस आधार पर चिन्ता न करूँ?

तारा—प्रभो, यदि हमारी नीयत साफ है, यदि हम अपने सत्य पर अटल हैं, यदि हमको ऋण चुकाने की सच्ची चिन्ता है, तो ऋण अवश्य ही चुक जावेगा, आप धैर्य रखे। ऋण तो उनका नही चुकता, जो ऋण चुकाने की ओर से उदासीन हैं आप उसके लिए चिन्तित हैं, अत. आप तो अवश्य ही ऋण मुक्त होगे।

रानी की बात सुनकर, राजा को धैर्य हुआ। कुछ दिन राजा-रानी उसी प्रकार अपने कार्य मे लगे रहे, परन्तु अवधि कुछ ही दिन शेष रहने पर, राजा को पुन. ऋण-चिन्ता ने लिया। आज, राजा ने सोचा, कि जैसे भी हो ऋण-मुक्त हो चाहिए। उस दिन, वे मजदूरी करने नही गये और अपने आप किसी के यहाँ नौकर रखकर, ऋण की मुहरे लेने के विचार बाजार में गये। वहाँ वे, एक बड़ी-सी दुकान पर जाकर और दूकान के एक सेवक से कहा, कि मुझे सेठ से है। दीन-वेश-धारी राजा को, पहले तो वह सेवक टालता, परन्तु राजा के विषेश अनुनय-विनय करने पर, उसने को सूचना करदी, कि एक मजदूर आप से कुछ बात क चाहता है।

जिन मजदूरों की कमाई पर धनिकों का जीवन निर्भर है,

श्रमजीवी आप छोटे रहकर भी दूसरो को बड़ा बनाते है, प्राय उन्ही श्रमजीवियो की बात को, उन्हीं के द्वारा बडे बनाये गये लोग सुनते ही नही हैं। वे, उन श्रमजीवियो को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, उनके दु:ख पर कोई ध्यान नही देते, वल्कि विशेष कहने-सुनने पर, उनके साथ अभद्रता-पूर्ण व्यवहार तक कर डालते सुने जाते हैं। वे, धन के कारण धनान्ध हो जाते है। ऐसे ही मनुष्यों को लक्ष्य करके, उर्दू के एक कवि कहते हैं —

नशा दौलत का बदअतबार का जिस आन चढ़ा।
सर पे शैतान के एक और शैतान चढ़ा॥

अर्थात्—अनुभवशून्य और क्षुद्रहृदय मनुष्य पर जिस क्षण सम्पत्ति का नशा चढ़ गया, उस समय मानो शैतान के सिर पर एक और शैतान चढ़ गया।

जो अविवेकी-मनुष्य, सम्पत्ति पाकर धनान्ध वन बैठते हैं, वे उन श्रमजीवियो की अपेक्षा कब करने लगे, जिन्होंने उन्हे बड़ा वनाया है और जो स्वयं गरीब रहकर, कष्ट उठाकर, फटे-टूटे कपड़े पहन-कर भी, इन्हे धनिक बनाते तथा अच्छी-अच्छी भोजन-सामग्री और अच्छे-अच्छे कपड़े देते हैं। यद्यपि यह है सर्वथा अनुचित, क्यो कि दीनो पर दया न करना, अपने उपकारी का उपकार न मानना, मनुष्योचित कार्य नहीं है, परन्तु धन के मद मे उन्हे अपने कर्त्तव्य का ध्यान नही रहता। धन के नष्ट होने पर, जब वे भी उसी श्रेणी में आजाते हैं, तब उन्हे अपनी भूल चाहे प्रतीत हो और तब वे श्रमजीवियो से भले ही प्रेम करने लगें, परन्तु इसके पहले ही यदि वे इस बात को समझ ले, तो ऐसा पश्चात्ताप करने का अवसर ही क्यो आवे? अस्तु।

मजदूर वेश-धारी राजा से, बात-चीत करना धनान्ध-सेठ को कब उचित प्रतीत हो सकता था ? उसने राजा की ओर देखकर अपने कार्य-कर्त्ताओं से कहा, कि इसे कोई मजदूरी का काम हो तो दे दो।

राजा—मै, मजदूर तो हूँ ही, और मजदूरी मेरा धन्धा ही है, परन्तु इस समय मै मजदूरी के लिए नही आया हूँ। मै, आपसे एक ऐसी वात कहना चाहता हूँ, जिसमें आपका भी लाभ है और मेरा भी लाभ है।

सेठ ने, यह विचार कर, कि यह मजदूर मेरे लाभ की क्या वात वता सकता है और कौन इससे बात करने मे अपना समय तथा अपनी प्रतिष्ठा का नाश करे, राजा को धुतकार दिया। राजा, वहाँ से निराश हो, दूसरी दूकान पर गये, परन्तु वहाँ भी वही दशा हुई। इसी प्रकार राजा कई दूकान पर गये, परन्तु किसी ने भी उनकी वात न सुनी। जिसप्रकार, हीरे की परीक्षा न जानने के कारण, भीलनी उसकी उपेक्षा करके घूँघची को महत्व देती है, उसीप्रकार दीन-वेश-धारी राजा की भी, कोई परीक्षा न कर सका और उन्हे सब जगह से निराश होना पड़ा।

इस तरह कई सेठो से अपमानित होने पर भी, राजा निराशा ‍े दवा, उद्योग करते रहे। एक सेठ ने, राजा के यह कहने पर, कि में आपको आपके लाभ की वात वताता हूँ, राजा की बात सुनना स्वीकार किया। राजा ने कहा—मैं, लिखना-पढ़ना, नापना-तौलना धरना-उठाना, खरीदना-बेचना आदि व्यापार-सम्बन्धी सब कार्य जानता हूँ। इतना ही नही, एक चतुर-सैनिक की तरह दूकान की रक्षा भी कर सकता हूँ। मै ऋणी हूँ, अत. आप मेरा ऋण

देकर, मुझे अपने यहाँ नौकर रख लीजिए, और जबतक मैं ऋण-मुक्त न हो जाऊँ, आप मुझसे काम लीजिए। मेरा वेतन, ऋण में जमा करते रहिये, मैं आपसे व्यय के लिए भी कुछ न लूँगा

सेठ—फिर खायगा क्या ?

राजा—मेरी स्त्री मजदूरी करती है, उसी मजदूरी से मेरा भी निर्वाह हो जायगा।

सेठ—तुझ पर कितना ऋण है ?

राजा—एक सहस्र मुहरे।

सेठ—एक सहस्र मुहरे ! क्या जुआखेला था ?

राजा—नहीं।

सेठ—फिर इस दशा मे तुझ पर इतना ऋण कैसे होगया ? क्या किसी और व्यसन का तुझे अभ्यास है ?

राजा—मैं, व्यसन के समीप भी नहीं जाता, मुझे एक ब्राह्मण की दक्षिणा देनी है, यही ऋण है।

सेठ—तेरा जितना वेतन नहीं होगा, उससे अधिक तो एक सहस्र स्वर्णमुद्रा का सूद हो जायगा। इस प्रकार तो हमारी मुद्राएँ तुझसे कभी पूरी ही नहीं हो सकती। इसके सिवा तेरा विश्वास क्या ? हजार मुहरे तुझे देदे और तू भाग जाय, तो हम कहाँ ढूँढ़ते फिरे ?

राजा—आप विश्वास रखिए, मैं कदापि नहीं भाग सकता।

सेठ—हमको विश्वास करके मूर्ख नहीं बनना है। एक-हजार स्वर्ण-मुद्रा की दक्षिणा देनेवाला और दूकान सम्बन्धी सब कार्य जाननेवाला मनुष्य, इस वेश में कदापि नहीं रह सकता। चल. जा यहाँ से। अनावश्यक-बातें करके हमारा समय नष्ट न कर।

तेरी यह ठगाई, यहाँ नही चलनेवाली है।

राजा—सेठ महाशय, आप मुझे नौकर रखकर तो देखिए कि मैं आपकी दूकान को किस उन्नत दशा पर पहुँचाता हूँ।

सेठ—पहले अपनी उन्नति तो करले, फिर हमारी दूकान की उन्नति करना। अपना पेट तो भरा नही जाता और चला है हमारी दूकान की उन्नति करने।

इस सेठ का भी, ऐसा शुष्क और अपमान-जनक उत्तर सुनकर, राजा निराश हो गये। वे, अपने स्थान पर आये और तारा से कहने लगे—आज मैंने अपनी मजदूरी भी खोई, जगह-जगह अपमानित भी हुआ, परन्तु किसी ने मेरी पूरी बात भी न सुनी, न कार्य ही सिद्ध हुआ। अब क्या करूँ और किस प्रकार ऋण से छुटकारा मिले?

तारा—नाथ, विपत्ति के समय ऐसा ही होता है। यदि ऐसा न हो और कोई किसी प्रकार की सहायता दे, या बात पूछने-सुनने लगे, तो फिर वह विपत्ति ही कैसी? स्वामी, विपत्ति के समय तो केवल धैर्य धारण कीजिए। जिस सत्य के लिऐ, हम इस विपत्ति को सह रहे है, वही सत्य हमे इस चिन्ता से मुक्त करेगा।

तारा ने, यद्यपि हरिश्चन्द्र को बहुत कुछ धैर्य दिया, परन्तु उन्हें ान्ति न मिली। ऋण की चिन्ता ने, उनके शरीर को दुर्बल और कान्ति को क्षीण बना दिया। ऋण की अवधि का दिन, जैसे-जैसे समीप आता था, वैसे ही वैसे राजा का भोजन-पानी भी छूटता जाता था। होते-होते यह दशा होगई, कि राजा चलने-फिरने से भी अशक्त हो गये।

मनुष्य के लिए, चिन्ता जितनी दुःखदायिनी होती है, उतना और कोई कष्ट दुःखदाई नही होता। चिन्ता, भीतर ही भीतर मनुष्य को भस्म कर देती है। किसी कवि ने कहा है —

चिन्ता ज्वाल शरीर वन, दव लागी न बुझाय ।
बाहर धुंआ न नीसरे अन्दर ही जल जाय ॥
अन्दर ही जल जाय जरे ज्यों कांच की भट्टी ।
रक्त मांस जरि जाय, रहे पिंजर की टट्टी ॥
कह गिरधर कविराय, सुनो रे सज्जन मिन्ता ।
वे नर कैसे जिये, जिन्हे तन व्यापी चिन्ता ॥

ऋण-चिन्ता से व्याकुल राजा, अनेक प्रकार के उपाय विचारते हैं, लेकिन सब ओर उन्हे निराशा ही निराशा देख पड़ती है। इस समय, आशा का ऐसा कोई तन्तु नहीं दिखाई देता, जिसके सहारे वे इस चिन्ता को कुछ देर के लिए भी भूले। चिंता में अत्यधिक आतुर हो, वे परमात्मा से प्रार्थना करने लगे—हे प्रभो, जिस सत्य के लिए मैंने राज-पाट छोडा, मैं मजदूर तथा रानी मजदूरनी बनी, अनेक प्रकार के कष्ट सहे, वह सत्य, क्या इस थोडे से ऋण के लिए चला जायगा ? सत्य जाने के पहले, यदि मृत्यु हो जाय तो अति ही श्रेष्ठ है, परन्तु सत्य न जाने पावे।

पति की यह दुःखावस्था, रानी से देखी नहीं जाती। वे, पति को धैर्य भी बँधाती जाती है और विचारती हैं, कि यदि पति के वचन की रक्षा मेरे प्राण देने से होती हो, तो मैं इसके लिए भी तैयार हूँ।

. जहाँ, आज की स्त्रिये केवल थोडे से आभूषणो के लिए,

पति के वचन की रक्षा का ध्यान नहीं रखती-थोड़े मे आभूषण दे देने से पति के वचन की रक्षा होती हो, तो इसके लिए भी तैयार नहीं होती, वहाँ रानी, अपने प्राण देकर भी पति के वचन की रक्षा करने को तैयार है। यदि आज की स्त्रियें, तारा का आदर्श सामने रखे, तो सर्वस्व देने को तैयार हो जायँ, जैसे देवकी ने वसुदेव के वचन की रक्षा के लिए अपने पुत्र दे दिये थे और कौशल्या ने, पति के वचन की रक्षा के लिए राम को, सहर्ष वन जाने दिया था। अस्तु।

राजा को तो ऋण की चिन्ता है और तारा को, राजा की चिन्ता है। वे विचारती है, कि मैने जिन पति के लिए सब सुख तृण की तरह छोड दिये, जिन पति का मुखचन्द्र देखकर, मैं मजदूरी करती हुई भी कुमुदिनी की तरह प्रसन्न रहती थी, उन पति की तो यह दशा है, अब, मै क्या करूँ? इसी चिन्ता के कारण, रानी के नेत्रो से, अविरल अश्रुधारा वह रही है।

आज, अवधि का अन्तिम दिन है। राजा, इसी चिन्ता मे विकल पडे है, कि आज के सूर्य मे ऋण कैसे चुकाया जाय? रानी भी, ऋण और पति की चिन्ता से विकल है। दोनो के नेत्रो से, आँसू वह रहे है और दोनो ही इस तरह उदास है, जैसे शरीर मे प्राण ही न हो। उसी समय, विश्वामित्र आकर, धर्मशाला के [illegible] पर हरिश्चन्द्र के लिए पूछने लगे। तारा और हरिश्चन्द्र की [illegible], विश्वामित्र का बोल सुन कर, और भी बढ गई। वे वच[illegible] लगे, कि अवधि पूरी होने से विश्वामित्र आये है, अब इनका ऋण कहाँ से चुकाया जाय। राजा, ऋण चुकाने से इनकार तो कर नहीं सकते, और पास कुछ है नही। अतः

वे सोचते हैं, कि अब इन्हे क्या उत्तर दूँगा ? इसी भय के मारे, उनकी जबान सूख गई।

राजा और रानी जिस कोठरी मे रहते थे, उसके द्वार पर विश्वामित्र कृतान्त की तरह आ खडे हुए। वे, अपनी क्रोधपूर्ण-वाणी से कहने लगे—कहाँ है हरिश्चन्द्र।

हरिश्चन्द्र को इस प्रकार विकल और विश्वामित्र को द्वार पर खडे देख, तारा धैर्य धर कर बाहर निकली। उसने, हाथ जोड़कर विश्वामित्र को प्रणाम किया और कहा—आपने बड़ी कृपा की, जो पधारे। कहिए, क्या आज्ञा है ?

विश्वामित्र, क्रोधित होकर कहने लगे—क्या तू नहीं जानती, कि मैं क्यो आया हूँ ? तेरा पति कहाँ है ? उससे कह, कि मेरा ऋण दे।

तारा—महाराज, आपका ऋण अवश्य देना है। आप महाजन हैं और हम ऋणी हैं। लेकिन यदि हमारे पास कुछ होता और हम देने की सामर्थ्य रखते, तो जब राज्य देने मे भी देर नहीं की, तब दक्षिणा का ऋण देने मे क्यो देर करते ? इस समय आप क्षमा कीजिए और कृपा करके कुछ अवधि और दे दीजिए। यदि हम लोग जीवित हैं तो आपका ऋण देंगे ही, किन्तु यदि आपने हम लोगो को क्रोध से भस्म ही कर दिया, तो इससे न तो आपका ऋण ही वसूल होगा, न हम ऋणमुक्त ही होंगे।

विश्वामित्र, अपनी आँखों को लाल-लाल करके कहने लगे-तुम लोगों के ये काम है। इस प्रकार धूर्तता करने पर तुम लोग उतारू हुए हो। क्या इसीलिए वह धूर्त आप तो छिप गया और तुझे भेजा है ?

तारा—आप, अपना क्रोध संवरण कीजिए और विचारिए, कि जिस समय हमलोग अयोध्या से चले थे, उस समय हमारे पास एक समय खाने इतना अन्न भी तो नही था। फिर हमने अपने दिन कितने कष्ट से निकाले होंगे ? हमारा आपका, राज्य देने-लेने के कारण घनिष्ठ-सम्बन्ध है, इस कारण आपको हमारा दु ख-समाचार पूछकर सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए थी। इस सम्बन्ध से नही, तो आप महाजन है और हम ऋणी है, इस नाते भी आपको हमारी कुशल पूछना उचित था। लेकिन आप तो और क्रुद्ध हो रहे है। यदि हमारे पास ऋण देने योग्य कोई वस्तु होती और फिर हम ऋण न देते, तब तो आपका क्रुद्ध होना उचित भी था, परन्तु जब हमारे पास ऐसी कोई चीज ही नही है, जिससे हम ऋण दे सके, तब आप अकारण ही क्यो क्रुद्ध हो रहे है ?

विश्वामित्र—मै तुमसे ऋण माँगने आया हूँ, ज्ञान सीखने नहीं। यदि तुम्हारे पास उस समय कुछ नही था और इस समय भी कुछ नहीं है, तो मै इसका क्या करूँ ? इस बात को पहले ही सोच लेना था। लेकिन तब तो हठवश राज्य भी दे दिया और दक्षिणा भी देना स्वीकार किया, और अब, जब दक्षिणा की अवधि की समाप्ति के दिन मै दक्षिणा की मुद्राएँ लेने आया, तब वह तो छिप गया और तुम इस प्रकार उत्तर देती हो। यदि तुम्हारे पास देने को नहीं है, तो अपने पति से कहो, कि वह अभिमान छोड़कर अपना अपराध स्वीकार करले। अपराध स्वीकार कर लेने पर, मै दक्षिणा भी छोड़ दूँगा और राज्य भी लौटा दूँगा।

आज की सी स्त्रियें होतीं, तो सम्भवत अपने पति से कहतीं कि अब तो कष्ट-सहिष्णुता की सीमा हो गई, अब कबतक सत्य को लिए फिरेंगे। जरा-सा अपराध स्वीकार कर लेने पर, इस ऋण-चिन्ता से भी छूटते हैं और राज्य भी मिलता है। लेकिन तारा, सत्यपालन और पतिवचन की रक्षा के लिए न मालूम कितना साहस रखती है, कि इतने कष्ट सहने पर भी वे पति के मार्ग को न तो अनुचित ही बताती है, न उनसे यही कहना चाहती हैं, कि आप अपराध स्वीकार करलें। अस्तु।

विश्वामित्र की बात सुनकर, तारा कहने लगी—महाराज, आप और सब कुछ कहिए, लेकिन सत्य छोडने के लिए कदापि न कहिए। जिस सत्य के लिए, हमने इतने कष्ट सहे और सह रहे हैं, उस सत्य को अन्त समय भी हम नहीं छोड सकते। हमें, राज-सुख का उतना लोभ नहीं है, जितना लोभ सत्य का है। यह तो किसी लोभी-मनुष्य से चाहे हो जाय, कि थोडे से लोभ के लिए सत्य छोड दे, परन्तु हमसे यह कदापि न होगा।

विश्वामित्र—हाँ, अभी अभिमान बाकी है? फिर यह बात कैसे सुनाती हो, कि हमारे पास कुछ नहीं है? चाहे कुछ हो या न हो, सत्य छोड़ो या मत छोडो, हमारी दक्षिणा दे दो, बस हम, चले जायँ। मै तो समझता था, कि हरिश्चन्द्र ही हठी है, तुम बुद्धिमान होओगी, परन्तु तुम तो उससे भी ज्यादा हठ करने-वाली जान पडती हो!

तारा—महाराज, हम ऋण देने से तो इनकार नहीं करते। हमारी प्रार्थना केवल यही है, कि हम इस समय देने मे असमर्थ हैं। हमारे पास, इस समय ऋण चुकाने की कोई सुविधा

नही है। आप बुद्धिमान है, अनुभवी है और हमारे महाजन हैं, इसलिए मै आपसे पूछती हूँ, कि आप ही कोई उपाय बताइए, जिससे हम आपका ऋण चुका सके। यदि आप उपाय बतावे और फिर हम उस उपाय से, आपका ऋण न चुकावे, तो हम अवश्य अपराधी है।

विश्वामित्र—उपाय भी तुम ही पूछोगी? अपने पति के लिए तुम ऐसी सुखदात्री हो, कि उसे बोलने का भी कष्ट न होने दोगी? अच्छा, लो मै उपाय बताता हूँ, किन्तु क्या उस उपाय को करोगी?

तारा—महाराज, आप जो उपाय बतावेगे, वह न्यायोचित ही होगा, इसलिए हम कदापि उसके करने से पीछे नहीं हट सकते।

विश्वामित्र—मै, यही उपाय बताता हूँ, कि तुमलोग बाजार मे बिको और मेरा ऋण चुकाओ।

यह बात सुनकर, साधारण-मनुष्य को क्रोध आना स्वाभाविक था। दूसरी स्त्री होती, तो कहती, कि जिससे लिया जाता है, उसे भी बिककर नही दिया जाता; तो मेरे पति ने तो तुम्हें वचन-दान ही दिया है, अत. जब होगा, तब देगे, बिके क्यो? लेकिन तारा के समीप, लिया हुआ देना और वचन-दान देना, दोनो एक ही समान थे। उन्हे जिस तरह भी हो, उस तरह ऋण देना स्वीकार था, इसलिए विश्वामित्र की बात से उन्हे दु.ख या क्रोध के स्थान पर प्रसन्नता हुई। वे कहने लगी—महाराज, आपने ठीक उपाय बताया। यह उपाय अबतक मेरी बुद्धि में आया ही न था, अन्यथा आपको इतना क्रोध करने और कुछ

कहने-सुनने का कष्ट ही न करना पड़ता। आपने, ऋण चुकाने का उपाय बता दिया है, इसलिए आज आपके ऋण से हम अवश्य ही मुक्त हो जावेंगे। आपने, यह उपाय बताने की बड़ी कृपा की है। मैं, आपको इस कृपा के लिए धन्यवाद देती हूँ। अब हम ऋण-मुक्त भी हो जावेंगे और आप अपना लेना भी पा जावेंगे। आप ठहरिए, मै आज ही के सूर्य मे ऋण चुकाये देती हूँ।

तारा की बात सुनकर, विश्वामित्र आश्चर्यमग्न हो गये और विचारने लगे, कि यह स्त्री, स्त्री नहीं, वरन् एक शक्ति है, जो पति का ऋण चुकाने के, लिए, बिकने को भी तैयार हो गई। धन्य है इसे, और इसके पति को भी धन्य है, जिसे ऐसी स्त्री प्राप्त हुई है।
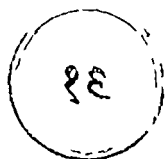
आत्म-विक्रय
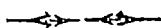
संसार मे. तीन प्रकार के मनुष्य है। एक तो वे, जो बिना लिए ही देते है, अर्थात् ऋणी नहीं है, परन्तु दान-स्वरूप देते है। दूसरे वे है, जो किसी का लेकर देते है और तीसरे वे है, जो किसी प्रकार भी नहीं देते। अर्थात् न दान ही देते है, न लिया हुआ ऋण ही। ये तीनो प्रकार के मनुष्य क्रमश उत्तम, मध्यम और नीच माने जाते है। बिना लिये देने मे तो विशेषता है, परन्तु लेकर देने मे कोई विशेषता नही है। फिर भी, संसार मे ऐसे-ऐसे मनुष्य निकलेगे ही, जो लेकर नहीं देते। ऐसे मनुष्यो की गणना न तो उत्तमो मे ही होती है, न मध्यमो मे ही।

किसी से ऋण लेकर उसे चुकाना भी जब मध्यम-दर्जे की बात है, अर्थात् अच्छा है, तो बिना लिये देना, या केवल वचन से देने का कहकर, अनेक कष्ट सहकर भी देना, कितनी विशेषता की बात है, इसे पाठक विचारे। लेकिन, भारत मे, ऐसे कई उदाहरण है, कि अपने वचन की रक्षा के लिए, अपनी सन्तान तक को मृत्यु के मुख मे दे दी। राज्य से वंचित रखकर, अपने

प्रिय-पुत्र को वन भेज दिया और आत्मविक्रय द्वारा वचन का पालन किया। अस्तु।

विश्वामित्र को द्वार पर ठहराकर, तारा वहाँ आई, जहाँ महाराजा-हरिश्चन्द्र पड़े-पड़े अपने भाग्य को कोस रहे थे। तारा ने उनसे कहा—नाथ, उठिए। अब चिन्ता की कोई बात नहीं है। ऋण-मुक्त होने का उपाय विश्वामित्र ने बता दिया है। आप, मुझे बाजार में बेचकर ऋण चुका दीजिए। ऐसा करने से हम लोग ऋण की चिन्ता से भी मुक्त हो जायँगे, अपना सत्य भी रह जायगा और विश्वामित्र को उनका लेना भी मिल जायगा।

तारा की बात सुनकर, हरिश्चन्द्र आश्चर्य-मिश्रित-दुःख से कहने लगे—क्या मैं तुम्हें बेच दूँ? क्या आज मेरी परिस्थिति ऐसी हो गई है, कि मुझे स्त्री बेचनी पड़ेगी? हाय! हाय! स्त्री-विक्रेता पुरुष कहाने की अपेक्षा तो मृत्यु श्रेष्ठ है। तुम, स्त्री होती हुई भी, मुझसे कई गुना श्रेष्ठ हो, जो अपने पति के वचन की रक्षा के लिए स्वयं बिकने को तैयार हो, लेकिन मैं पुरुष होते हुए भी, अपने कर्त्तव्य के पालन में असमर्थ हूँ। हे ईश्वर! अब कौन कह सकता है, कि तू और सत्य नहीं है? यदि ऐसा न होता, तो आज तारा किस विश्वास से बिकने के लिए तैयार होती?

राजा, स्वयं ही इस प्रकार दुःखसागर में निमग्न थे, ऊपर से विश्वामित्र कठोर वाक्य कहने लगे। वे कहने लगे—हे राजा! तेरा गर्व अभी नहीं गया है? क्या तू सत्य की रक्षा करेगा? देख, अब तेरी जीवन-नौका किस प्रकार दुःख के सागर में डूबेगी। तब तो तुझे मालूम होगा ही, कि ब्राह्मण की [illegible] को [illegible] और फिर हठ करने का क्या फल होता है।

हरिश्चन्द्र से तारा कह रही हैं—स्वामी, आप चिन्ता न कीजिए। मैं, किसी और कारण से नही बिक रही हूँ, किन्तु सत्य-पालन के लिए बिक रही हूँ। सत्य-पालन के समय, इस प्रकार की चिन्ता करना, वीरो का काम नहीं है। सूर्य ढलता जा रहा है, इसलिए अब देर न कर शीघ्र उस बाजार में चलिए, जहाँ दास-दासी का क्रय-विक्रय होता है। उस बाजार में मुझे बेचकर, विश्वामित्र को एक सहस्र मुहरे दे दीजिए और हर्ष मनाइए, कि आज ही के सूर्य मे हमने ऋण चुका दिया। इस समय आप शोक न कीजिए। शोक की कोई बात नही है, वरंच प्रसन्नता की बात है, कि अपना सत्य न जायगा।

रानी, यद्यपि उसी सत्य के पालन की बात कह रही हैं, जिसके लिए राजा ने स्वयं भी इतने कष्ट सहे हैं, लेकिन फिर भी दु:ख के मारे राजा का खून सूखा जाता है। उन्होने रानी की बात का कुछ भी उत्तर न दिया। पति को शोकमग्न और निरुत्तर देख, रानी ने विचारा, कि पति स्वयं न तो मुझे बिकने की स्वीकृति ही दे सकेंगे, न चलने के लिए आगे ही होगे। इधर सूर्य ढलता जाता है। यदि सूर्यास्त के पहले ऋण न चुका दिया, तो सत्य भ्रष्ट भी होगे और बिकने का जो लाभ होना चाहिए, वह भी न होगा।

इस प्रकार विचार करके, रानी ने अपने पास की शेप भोजन-सामग्री से कोठरी तथा वर्तन का किराया चुकाकर, जिसकी वस्तु थी, वह उसे सोप दी और इधर-उधर से थोड़ा-सा एकत्रित कर, सिर पर रख * पति से कहने लगी—स्वामी!

*—बिकनेवाले दास-दासो, अपने सिर पर थोड़ी-सी घास रख लेते थे, यह उनका चिन्ह माना जाता था। —सम्पादक

चलिये। यह दु:ख करने का समय नहीं, किन्तु सत्य-पालन का समय है। सूर्य, अस्ताचल की ओर जा रहा है। यदि सूर्यास्त के पहले ऋण न चुका दिया गया, तो आप प्रतिज्ञा-भ्रष्ट हो जावेंगे।

तारा को बिकने के लिए उद्यत देख, हरिश्चन्द्र के प्राण सूखने लगे। वे, अपने मुख से कुछ भी न बोल सके। विश्वामित्र भी, तारा को बिकने के लिए उद्यत देख, अवाक् रह गये। वे, मन ही मन कहने लगे, कि मै समझता था, कि मै योगी हूँ, मुझमे तप का बहुत बल है, अपने तपोबल से मै जिसे चाहूँ, नीचा दिखा सकता हूँ, परन्तु यह मेरा भ्रम था। ये जो गृहस्थी हैं, इन्होंने अपने सत्य-बल से मुझे भी नीचा दिखा दिया। पहले तो हरिश्चन्द्र ने ही राज्य देकर मेरा मान भङ्ग किया, और अब दक्षिणा के लिए बिककर, तारा मेरे रहे-सहे अभिमान को भी नष्ट कर रही है।

तारा समझ गई, कि दु:खमग्न पति, बिना मेरे चल दिये, कदापि न उठेंगे, अत: वे रोहित को गोद मे लेकर, बाजार की ओर चल दी। तारा को जाते देख, विवश हो हरिश्चन्द्र भी साथ हो लिये। आगे-आगे, पुत्र को लिये हुए तारा, उनके पीछे हरिश्चन्द्र और हरिश्चन्द्र के पीछे विश्वामित्र चलते हुए उस बाजार मे पहुँचे, जहाँ दास-दासियो का क्रय-विक्रय होता था।

दास-दासी के क्रय-विक्रय की प्रथा, भारत में भी किसी समय प्रचलित थी, लेकिन जिस समय अन्य देशो मे यह प्रथा जोरों पर थी, उस समय इतिहास से प्रकट है कि भारत से इस प्रथा का अन्त हो चुका था। भारत मे यद्यपि दास-दासी के

क्रय-विक्रय की प्रथा थी अवश्य, लेकिन दास-वाणिज्य के विषय मे, लेखको ने योरोप के दासो के साथ होनेवाले जिन घृणित और असानुषिक व्यवहारो का वर्णन किया है, उनके कलङ्क से भारत सदा बचा रहा है। भारत सदा से सहृदय-देश है। उसने दासो पर वैसा अत्याचार कभी नही होने दिया, जैसा अत्याचार योरोप मे दासो पर होता था। इतिहासकार कहते है, कि इंग-लैड मे तो उन्नीसवी सदी तक यह प्रथा बराबर जारी थी और अब भी वहाँ के निवासी प्रतिज्ञा-बद्ध कुली के रूप मे, इस प्रथा को बराबर मानते है। भारत मे भी कही-कही दासत्व प्रथा अभी शेष है, जैसे कि राजस्थान के राजाओ के दास, कभी दासत्व से मुक्त नही होते—लेकिन दास-व्यसाय नही होता और इस शेष प्रथा का भी क्रमश अन्त होता जा रहा है। अस्तु।

रानी ने विचारा, कि पति तो दु.खवश मुझे बेच न सकेगे, इसलिए मैं स्वयं ही अपने आपको बेचूं। वे बाजार मे आवाज देकर कहने लगी—भाइयो! मै दासी हूँ, गृह के सब कार्य मै कर सकती हूँ, अत जिसको दासी की आवश्यकता हो, वह मुझे खरीद ले।

रानी के स्वरूप को देखकर, लोग आश्चर्य करने लगे, कि यह दासी तो विचित्र प्रकार की है। इस बाजार मे, अबतक ऐसी सुन्दर और सुडौल शरीरवाली दासी, कभी बिकने न आई थी। इसकी सुकुमारता और इसके रूप-लावण्य से प्रकट है, कि यह कोई भद्र महिला है, परन्तु विपत्ति की मारी बिक रही है। इन लोगो मे से, एक ने तारा से पूछा ही तो, कि तुम कौन हो, कहाँ रहती हो और क्यो बिकती हो?

तारा—मैं, पहले ही कह चुकी हूँ, कि मैं दासी हूँ। दासी का विशेष परिचय क्या ? हाँ, यदि आपलोग चाहे, तो मै क्या-क्या काम कर सकती हूँ, यह अवश्य पूछ सकते है।

वह—तुम्हारा मूल्य क्या है ?

तारा—ये ऋषि (विश्वामित्र) जो खड़े है, इन्ही की मै और मेरे पति ऋणी है। इन्हे, एक सहस्त्र स्वर्ण-मुद्राएँ देनी है। जो कोई इनकी एक-सहस्त्र स्वर्ण-मुद्राएँ देनी चुका दे, मै उसी के साथ दासीपना करने के लिए चलने को तैयार हूँ।

तारा का मूल्य सुनकर, लोग भौंचक्के से हो आपस मे कहने लगे, कि एक-सहस्त्र स्वर्ण-मुद्राएँ दे, ऐसी कोमलाङ्गी-दासी ख़रीद-कर क्या करेंगे ? जो स्वय ही इतनी कोमल है, वह हमारा काम क्या करेगी ?

उन लोगो मे से कोई विश्वामित्र से कहने लगा, कि तुम साधु हो, तुम्हे धन की ऐसी क्या आवश्यकता है, जो इसको बिकने के लिए विवश करते हो ? कोई राजा के लिए ही कहता है, कि यह कैसा पुरुष है, जो अपने सामने अपनी ही स्त्री को बिकती देखता है ? और कोई तारा के लिए ही कहने लगा, कि यह स्वयं ही न मालूम कैसी स्त्री होगी, तभी तो इसका पति अपनी उपस्थिति मे इसे बिकने देता है। इस प्रकार तीनो के लिए कटु-शब्द कह-कहकर सब लोग चले गये। किसी ने भी तारा को ख़रीदने का विचार न किया।

जिस स्थान पर तारा बिकने के लिए खड़ी थी, वहीं एक वृद्ध और अनुभवी-ब्राह्मण खड़ा हुआ, सब बाते सुन रहा था। तारा की बातो और उसके लज्जादिक गुणो से उसने अनुमान

किया, कि यह कोई विपद्ग्रस्त विदुषी महिला है, जो अपने आपको वेच रही है। इसके लक्षणों से प्रकट है, कि यह गुणवती और सच्चरित्रा है। वे लोग मूर्ख हैं, जो एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्रा को इसकी अपेक्षा अधिक समझते है।

इस प्रकार विचारकर, वृद्ध-ब्राह्मण तारा के पास जा, उससे कहने लगा—भद्रे! तुम्हारे लक्षणों से प्रकट है, कि तुम किसी बड़े घर की स्त्री हो और विपत्ति की मारी अपने आपको बेचकर, इनका ऋण चुका रही हो। लेकिन क्या इतना और बता सकती हो, कि यह ऋण किस बात का देना है?

तारा—दक्षिणा का ऋण है।

ब्राह्मण—आपका नाम, गोत्र आदि क्या है?

तारा—इसके लिए तो मैं कह ही चुकी हूँ, कि मैं दासी हूँ, दासी का नाम गोत्र आदि क्या पूछना?

ब्राह्मण—यद्यपि तुम्हारे सद्गुणों के कारण, तुम्हारे एक-एक नाखून के लिए सहस्र-सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ देना अधिक नहीं है, लेकिन मैं तुम्हारी कही हुई, एक-सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ देने में भी असमर्थ हूँ। मेरे पास, केवल पाँचसौ स्वर्ण-मुद्राएँ हैं। यदि तुम अपने बदले पाँचसौ स्वर्ण-मुद्राएँ दिलाना स्वीकार करो, तो मैं देने को तैयार हूँ।

ब्राह्मण की बात सुनकर, तारा विचारने लगी, कि अब क्या करना चाहिए? देनी तो एक-सहस्र मुहरे है और ये ब्राह्मण पाँच-सौ ही देते हैं। प्रसन्नता की बात है, कि जहाँ किसी ने मुझे एक पैसे में भी नहीं खरीदना चाहा था, वहाँ इन्होंने मेरी कीमत पाचसौ मुहरे तो लगाई। इन मुहरों से यद्यपि सब ऋण तो न

चुकेगा, परन्तु विश्वामित्र को आधी दक्षिणा मिल जाने से, वे शान्त अवश्य हो जायँगे। पाँचसौ मुहरे पाजाने पर, वे शेष मुहरो के लिए पति को कुछ और समय दे देगे, उस समय मे पति इन की शेष मुहरे भी चुका देगे और कुछ ही दिन मे मुझे भी छुड़ा लेगे। इनका भाग्य-सूर्य, इसी समय विपत्ति के बादल मे छिपा है, जो सदा न छिपा रहेगा।

इस प्रकार विचार कर, तारा ने हरिश्चन्द्र से कहा—स्वामी, ये ब्राह्मण पाँचसौ मुहरे देते हैं। ऋण चुकाने के लिए तो यद्यपि ये मुहरे पर्याप्त नहीं हैं, परन्तु आधा ऋण अवश्य चुक जायगा। अब, आप जैसी आज्ञा-दे, वैसा करूँ।

विश्वामित्र ने, तारा की बात सुनकर विचारा, कि इसको बिकवाकर पाँचसौ मुहरे ले लेना ही ठीक है। पाँचसौ मुहरे जो शेष रहेगी, उनका भी मै राजा से अभी देने के लिए तक़ाजा करूँगा। राजा के पास अब तो स्त्री भी नही है, जो उसे बेचकर शेष ऋण देगा। इस प्रकार वह कष्ट से घबरा कर अपना अपराध स्वीकार कर लेगा, बस! बात ख़तम हो जायगी। इसके सिवा, यह रानी अबतक इसे धैर्य देती रही है। इसके बिकजाने पर, फिर कोई धैर्य देनेवाला भी न रहेगा। परिस्थिति के दु ख, स्त्री-वियोग के दु ख और मेरे ऋण के दु ख से कातर हो, यह अवश्य ही अपराध स्वीकार कर लेगा।

हरिश्चन्द्र तो दु ख के आवेश मे तारा की बात का कुछ उत्तर दे न सके, इसी बीच विश्वामित्र कहने लगे—उससे क्या पूछती हो? पाँचसौ मुहरें देता है तो पाँचसौ दिलाओ, जिसमे मुझे कुछ सन्तोष तो हो।

विश्वामित्र की इस बात ने, हरिश्चन्द्र के दुःखित-हृदय में तीर का काम किया। वे, मन ही मन कहने लगे—हाय! सिर पर ऋण होना भी कितने दुःख की बात है। यदि, आज मैं ऋणी न होता, तो तारा के इस प्रकार बिकने और विश्वामित्र के बाण-ऐसे वचन सहने की, क्या आवश्यकता होती? संसार के वे लोग नितान्त अभागे हैं, जिनपर दूसरे का ऋण है। और वे लोग बड़े भाग्यशाली हैं, जिनपर किसी का ऋण नहीं है। इतने अनुभव के बाद आज मैं कहता हूँ, कि ऋण के समान दूसरा कोई दुःख नहीं है। लेकिन ऋण उन्हीं के लिए दुःखदाता है, जो उसे चुकाना चाहते हैं और अपना सत्य पालन करना चाहते हैं। जो दूसरे का ऋण डुबाने वाला है, उसके लिए तो ऋण का होना और न होना दोनों समान हैं।

विश्वामित्र की [illegible] सुन, तारा अपने पति से कहने लगी—नाथ, ऋषि को इतनी [illegible] मिल जाने से कुछ सन्तोष हो जायगा, इसलिए आप मुझे बिकने की आज्ञा दीजिए।

कुछ ही दिन पूर्व, जो दूसरों को दासत्व से मुक्त कराते थे, जो मानव-विक्रेताओं को दण्ड देने का प्रबन्ध करते थे, जो स्वयं दूसरे की परतन्त्रता का हरण करते थे, अपनी ही स्त्री को बिकते देख, उन्हीं दानवीर महाराजा-हरिश्चन्द्र के हृदय की जो दशा हुई होगी, वह अवर्णनीय है।

रानी के बहुत समझाने-बुझाने पर भी, राजा मुख से तो कुछ [illegible] सके, लेकिन गर्दन हिलाकर, उन्होंने रानी को बिकने की [illegible] देदी। रानी ने, ब्राह्मण से कहा—महाराज, लाइए, पाँचसौ मुहरें ही दीजिए। ब्राह्मण ने, पाँचसौ मुहरे राजा को गिन दीं, राजा ने उन्हें लेकर, चुपचाप विश्वामित्र को सौंप दीं।

मुहरे गिनकर, ब्राह्मण ने जैसे ही तारा से कहा, कि 'दासी चलो' वैसे ही हरिश्चन्द्र को वज्राघात-सा दु ख हुआ। जो रानी हजारो सेविकाओ से सेवित थी, वह आज दूसरे के घर दासी बनकर जा रही है, इस दु ख से हरिश्चन्द्र मूर्छा खाकर गिर पड़े। उन्हे, यह दु ख असह्य हो उठा, कि आज से रानो, 'दासी' कही जावेगी। इस समय, उनके हृदय को जो दु ख हो रहा है, वह केवल अनुमान से ही जाना जा सकता है।

पति को मूर्छित होकर गिरते देख, रानी, घबरा उठी और मनमें कहने लगी, कि अबतक तो मै इन्हे धैर्य बँधाती रहती थी, इनके दु ख को किसी प्रकार कम करती रहती थी, लेकिन अब इनकी क्या दशा होगी ? ये तो अभी से इस प्रकार अधीर हो उठे हैं, अब क्या करूँ ? ब्राह्मण से पति को समझाने के लिये आज्ञा प्राप्त कर, रानी ने हरिश्चन्द्र के मुख पर अचल से हवा की और उन्हे उठाकर बैठाया। हरिश्चन्द्र को कुछ सचेत देख, रानी कहने लगी—नाथ, यह समय दु ख करके मूर्छित होने का नही है, किन्तु सत्य पालने का है। सूर्यास्त होना ही चाहता है और अभी आधा ऋण बाकी है। यदि शेष ऋण के लिए विश्वामित्र ने अवधि न दी और बिना ऋण चुकाये सूर्य अस्त हो गया, तो आप सत्य से पतित हो जावेगे। सत्यपालन के समय, मूर्छित होने से काम नहीं चल सकता, इसके लिए तो हृदय को वज्र के समान दृढ़ बनाना पडता है। आप तो, मेरे जाने से ही इस प्रकार दु.खी हो रहे हैं, लेकिन मै तो आपसे भी जुदी हो रही हूँ और पराये घर की दासी भी बन रही हूँ। यदि मै भी आप ही की तरह दु.खित हो जाऊँ, तो फिर सत्य का पालन कैसे हो

सकेगा ? नाथ, जिस सत्य के लिए आपने राज्य-पाट छोड़ा, जिस सत्य के लिए आपने भूख-प्यास आदि दु ख सहते हुए मजूरी की; जिस सत्य के लिए विश्वामित्र के मर्मभेदी वचन सुने, जिस सत्य के लिए मैं बिकी हूँ, क्या उस सत्य को आप खोना चाहते हैं? सत्य को जाने देना, वीरोचित और क्षत्रियोचित कार्य नहीं है इस समय आपको प्रसन्न होना चाहिए, कि मुझे जिस ऋण की चिन्ता थी, जिस ऋण के कारण सत्य के चले जाने का सन्देह था, उस ऋण मे से आधा ऋण चुक गया। आप, किसी प्रकार की चिन्ता या दु'ख न कीजिये, न मेरे लिए यह विचारिए, कि यह रानी थी और अब दासी हो गई। मै सदा से दासी हूँ आज से नहीं। स्त्रिये, जन्म से ही दासी होती हैं। जो स्त्री किसी की दासी न होकर स्वतन्त्र रहती है, वह पतित गिनी जाती है। इसके सिवा, मै किसी और कारण से दासी नही बनी हूँ किन्तु सत्यपालन के लिए दासी बनी हूँ। यह तो ब्राह्मण ने मुझे खरीदा है, लेकिन इस समय यदि कोई चाण्डाल भी मेरा मूल्य देता, तो मै प्रसन्नता-पूर्वक उसकी भी दासी बनना स्वीकार कर लेती। अपने सत्य और धर्म की रक्षा करते हुए, चाहे ब्राह्मण की दासी होऊँ, या चाण्डाल की, दोनो बराबर ही है। मुख्य कार्य, सत्य को न जाने देना है, दासी बनना तो गौण-कार्य है परिस्थिति पर निर्भर है। आप पुरुष हैं, क्षत्रिय हैं और सूर्य मे जन्म धारण किया है। इतने कष्ट तो आपने सह लिये व थोड़े से कष्ट से अधीर होकर सत्यपालन से वंचित रहना आपके लिए शोभा नही देता। आप सत्य पर विश्वास तथा धैर्य रखिए और प्रसन्नता से मुझे आशीर्वाद देकर विदा दीजिये

मेरे भाग्य में यदि आपकी सेवा करना लिखा होगा, तो मैं फिर आपके दर्शन करूँगी ।

रानी के इन शब्दो ने, राजा के मृतवत् शरीर मे बिजली दौड़ा दी । वे, सत्य का स्मरण कर दु ख को भूल गये और उठ खडे हुए । उन्होने रानी से कहा—तारा, मेरे सत्य की रक्षा तुम्ही ने की है । यदि तुम न होती, तो मै कभी से सत्य-भ्रष्ट हो गया होता । तुम जो कहती थी कि आधा ऋण मुझपर है, और मैं आधे कष्ट को बँटा लूँगी, वह तुमने सत्य कर दिखाया । अब शेष ऋण की कोई चिन्ता नही है, तुमने ऋण चुकाने का मार्ग मुझे वता दिया है । अब मै तुम्हे प्रसन्नता-पूर्वक बिदा करता हूँ और आशीर्वाद देता हूँ, कि जिस सत्य के लिए तुमने इतने कष्ट सहे हैं, वह सत्य तुम्हारी रक्षा करे ।

तारा—नाथ, आपको धन्य है । अब आप इस पुत्र को सम्हालिए । बिकी मैं हूँ, यह नही बिका है ।

पुत्र को पति के हाथ मे सौंप, पति को प्रणाम कर, जैसे ही रानी चलने को हुई, वैसे ही रोहित चिल्ला उठा और दौड़कर माता से चिपटकर कहने लगा—माँ, तुम कहाँ जाती हो ? मैं तुम्हारे ही साथ चलूँगा । मुझे छोड़कर मत जाओ, मैं तुम्हारा रोहित हूँ ।

पुत्र के ये शब्द, माता के हृदय मे क्या भाव उत्पन्न कर सकते हैं, यह वात सभी जानते हैं । तारा के हृदय मे भी वही वात हुई, लेकिन उन्होने धैर्य धारण करके कहा—बेटा, मैं इन ब्राह्मण महाराज की सेवा करने जाती हूँ, तुम अपने पिता के पास रहकर इनकी सेवा करना ।

रोहित—माँ, मैं पिता की सेवा करना नही जानता । मै तो

उन्हे प्रणाम करना जानता हूँ, सो प्रणाम किये लेता हूँ। मैं तुम्हारी सेवा करूँगा और जब तुम पिता की सेवा करना सिखला दोगी, तब पिता की सेवा करूँगा।

तारा ने जब देखा, कि रोहित किसी प्रकार भी पति के पास न रहेगा और कदाचित रह भी गया, तो पति को इसके पालन-पोषण मे कष्ट होगा, तब उनने ब्राह्मण से प्रार्थना की, कि महाराज! यह बालक मुझे नही छोड़ता है। यदि आप आज्ञा दे, तो मै इसे भी साथ ले लूँ।

ब्राह्मण—मै, घर मे अकेला नही हूँ, किन्तु मेरे यहाँ पुत्र, पुत्र-बधू आदि भी हैं। मैंने, तुम्हे उनसे पूछकर नही खरीदा है, इसलिए इसी बात की चिन्ता है, कि वे लोग इस विषय में मुझे न मालूम क्या कहे। अब, यदि इसे और साथ लोगी, तो इसके हठ करने, रोने आदि के समय समझाने-बुझाने, तथा इसके खिलाने-पिलाने आदि मे, तुम्हारा बहुत-सा समय जावेगा और तुम काम न कर सकोगी। इसके सिवा, मै तुम्हे भी खाने को दूँ और इसे भी खाने को दूँ, इस प्रकार दो मनुष्यों का भोजन-व्यय क्यो सहन करूँ ?

ब्राह्मण की अन्तिम बात सुनकर, राजा मन-ही मन कहने लगे—सत्य! तू अच्छी कसौटी कर रहा है। जिस बालक के ... से और सैकड़ो लोग भोजन करते थे, आज उसी बालक ... भोजन भी भार हो रहा है।

ब्राह्मण की बात के उत्तर मे रानी कहने लगीं—महाराज यह बालक वड़ा ही विनीत है। हठ करना या रोना तो यह जानता ही नही है। आप स्वयं बुद्धिमान हैं, इसके लक्षणो से ह

जान सकते हैं, कि यह बालक कैसा होनहार है। इसके लिए मैं आपसे पृथक् भोजन लूँगी, आप मेरे लिए जो कुछ देंगे, उसी मे से खाकर, यह भी आपका कुछ काम करता रहेगा। कृपा करके, आप इसे ले चलने की आज्ञा दे दीजिए।

ब्राह्मण ने देखा, कि जब यह इसके लिए और भोजन भी न लेगी, बल्कि अपने ही भोजन मे से खिलायेगी और यह लड़का बिना भोजन लिए ही मेरा काम भी करेगा, तब साथ चलने को कहने में क्या हर्ज है ? इस प्रकार विचार करके, ब्राह्मण ने रानी को आज्ञा दी, कि तुम उसे अपने साथ ले चल सकती हो। ब्राह्मण की स्वीकृति पा, पुत्र को लेकर रानी ब्राह्मण के साथ चल दीं। राजा, खड़े-खड़े तबतक उन्ही की ओर देखते रहे, जबतक वे आँख से ओझल न होगई, लेकिन रानी ने राजा की ओर घूमकर इसलिए न देखा कि इन्हे मेरे घूमकर देखने से अधिक दुःख होगा।

जाते समय, रानी ने मन-ही-मन यह अवश्य कहा, कि ऐ संसार की स्त्रियो! मेरी दशा से तुम लोग कुछ शिक्षा ग्रहण करो। मैं, वही तारा हूँ, जो कुछ दिन पहले एक विशाल-राज्य के महाराजा की रानी थी। मैंने, पति के वचन की रक्षा के लिए ही, राज-सुख त्यागकर कष्ट सहे है और अब दासीत्व स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, यदि इससे भी विशेष कष्ट हो तो सहन करूँगी। आज, यदि मैं राज्य-सुख के कारण गृहस्थी के कार्यों को न जानती होती, या जानकर भी करने मे लज्जा या आलस्य करती, तो अपने पति की सहायता कभी न कर पाती। आप लोग भी धन-वैभव के मद मे स्त्रियोचित-कार्यों मे कभी लज्जा

या आलस्य न करे, अन्यथा आपका जीवन तो कष्टमय होगा ही, लेकिन आप सत्य का भी पालन न कर सकेगी। इसके सिवा, पति के सत्य की रक्षा के लिए, अपने प्राण तक देने मे सङ्कोच न करे। आप लोग, यदि इस बात का ध्यान रखेगी, तो अपने धर्म का भी पालन करेगी और संसार मे अक्षय-कीर्ति भी प्राप्त करेंगी। अस्तु।

रानी ने, यद्यपि राजा को बहुत-कुछ धैर्य दिया था, और राजा ने धैर्य धारण भी किया था, लेकिन रानी के आँखो से ओझल होते ही, राजा का धैर्य छूट गया। रानी को दासी बनाना पड़ा, इस दु ख से वे कातर हो उठे और मूर्छित होकर गिर पड़े। पुत्र का वियोग भी उन्हे असह्य हो उठा। वे, भूमि पर पड़कर उसी प्रकार तलफने लगे, जैसे जल से बाहर निकाली जाने पर मछली तलफती है।

विश्वामित्र ने, राजा की इस दु खावस्था से लाभ उठाना उचित समझा। उनका अनुमान था, कि इस समय यदि मै राजा से ऋण का तकाजा करके,इसे कुछ कटु-वाक्य कहूँगा और दूसरी ओर अपराध स्वीकार करने से लाभ का लोभ दूँगा, तो सम्भव है, यह अपना अपराध स्वीकार करले। इस प्रकार विचार कर, विश्वामित्र अपने वाग्बाण द्वारा हरिश्चन्द्र के दु:खित हृदय को भी छेदने लगे। वे, कहने लगे—अरे निर्लज्ज! सूर्य अस्त चाहता है, तुझे शेष ऋण देने की चिन्ता नही है? यदि स्त्री-पुत्र इतने प्रिय थे, यदि तू दक्षिणा नही दे सकता था, तो फिर तूने किस बल पर हठ की थी? अब, या तो तू मेरी शेष स्वर्ण-मुद्राएँ सूर्यास्त के प्रथम देदे, अन्यथा अपनी हठ छोड़कर

अपराध स्वीकार कर ले। अपराध स्वीकार करता हो, तो मैं ये पाँचसौ मुहरें भी लौटाता हूँ जिससे रानी को फिर छुड़ा ले-शेष पाँचसौ मुहरें भी छोड़ता हूँ और तेरा राज्य भी तुझे लौटाता हूँ।

विश्वामित्र ने, ये बाते कही तो थीं किसी और अभिप्राय से, लेकिन फल कुछ और ही हुआ। विश्वामित्र तो विचारते थे, कि मेरी इन बातों से राजा सत्य छोड़ना स्वीकार कर लेगा, लेकिन विश्वामित्र की इन बातो ने, राजा को एक प्रकार की शक्ति प्रदान की। वे, रानी की अन्तिम शिक्षा को याद करके खड़े हो गये और विश्वामित्र से कहने लगे—आप और जो चाहे, वह कटु-वचन कहें, लेकिन सत्य छोड़ने का कदापि न कहे।

परित्यजेच्च त्रैलोक्यं राज्य देवेषु वा पुनः।
यद्वाप्याधिकमेताभ्यां न तु सत्य कथंचन॥

त्यजेच्च पृथिवीं गन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूप वायुःस्पर्शगुण त्यजेत्॥

प्रभा समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मता।
त्यजेच्छब्दं तथा काशं सोमःशीताशुतां त्यजेत्॥

विक्रम वृत्रहा जह्यात् धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
नत्वहं सत्यमुत्स्रष्टु व्यवसेय कथंचन॥

अर्थात्—त्रैलोक्य के राज्य पर लात मारना, स्वर्ग-साम्राज्य को परित्याग करना, एवं इनसे भी बढ़कर कोई वस्तु हो, तो उसे भी परित्याग करना मुझे स्वीकार है, परन्तु सत्य से विलग होना मुझे कदापि स्वीकार नहीं हो सकता। पृथ्वी, जल, वायु

सूर्य, अग्नि, चंद्रमा, ये सब अपने गुण और अपनी प्रकृति को चाहे छोड़ दे, परन्तु मैं सत्य को किसी भी प्रकार न छोड़ूँगा।

महाराज, जिस सत्य के लिये मैंने राज्य देने में भी सङ्कोच न किया, जिस सत्य के लिए स्त्री-पुत्र सहित मैंने वन के कष्ट सहे, जिस सत्य के लिए मैं मजदूर और रानी मजदूरनी बनी, जिस सत्य के लिए मेरी स्त्री बाजार मे दासी बनकर बिकी और मै खड़ा-खडा देखता रहा, उस सत्य को क्या अब पॉचसौ मुद्राओं के ऋण से भीत हो, जाने दूँगा ? इतने कष्ट तो सह लिये और अब जरा से कष्ट के लिए, क्या मै अपना सत्य छोड़ सकता हूँ ? ऋषिजी, आप ठहरिए। मै, आज सूर्यास्त के पहले ही ऋण चुका दूँगा। कैसे चुकाऊँगा, इसके लिए रानी मुझे मार्ग बता गई है, मै उसी मार्ग का अवलम्बन करूँगा।

विश्वामित्र को, इस प्रकार उत्तर देकर, महाराज हरिश्चन्द्र, रानी के छोड़े हुए घास को अपने सिर पर रख, बाजार मे घूम-घूमकर आवाज देने लगे—कि मै दास हूँ, कोई मुझे खरीद लो।

विशाल-शरीर वाले और सुन्दर दास को बिकते देख, बाजार के लोगो के हृदय मे वैसा ही आश्चर्य हुआ, जैसा रानी को बिकते देखकर हुआ था। इन लोगो ने राजा से उसी प्रकार प्रश्न किये, जैसे रानी से किये थे; लेकिन राजा ने यही उत्तर दिया, कि मैं दास हूँ, मेरी जात-पॉत, मेरा निवासस्थान आदि क्या पूछना ? हॉ, यह मै अवश्य बताये देता हूँ, कि संसार मे पुरुषोचित जितने भी कार्य हैं, मै, उन सब को कर जानता हूँ।

राजा ने, यद्यपि सब काम जानना और करना स्वीकार किया, लेकिन पॉचसौ मुहरें देकर उन्हे खरीदना किसी को भी उचित

न जँचा। सब लोग, मूल्य अधिक बताकर, मुँह बिचकाते हुए चल दिये।

दास-दासी के व्यवसाय के बाजार मे, एक-भंगी, इन लोगों के आने के पहले से ही खड़ा था। वह रानी के बिकने का हाल देख चुका था और राजा तथा विश्वामित्र की आपस मे जो बातें हुई थीं, उन्हे भी सुन चुका था। वह मन-ही-मन विचारता था, कि कैसे अच्छे दास-दासी बिकते है, परन्तु ये लोग मेरे यहाँ चलना क्यों स्वीकार करेगे ? इसी विचार से वह रानी के बिकने के समय नही बोला था और इसी विचार से अब भी चुप है।।

लोगो के, इस प्रकार चुपचाप बिना मूल्य लगाये चले जाने से, राजा को बड़ी निराशा हुई। वे, चिन्ता करने लगे, कि क्या मुझे कोई न खरीदेगा ? क्या आज सूर्यास्त के पहले मै अपना ऋण न चुका सकूँगा ? यदि ऐसा हुआ, तो इस कलङ्क को रखने के लिए मुझे कहीं स्थान भी न मिलेगा।

भङ्गी खड़ा-खड़ा उन लोगो की मूर्खता को धिक्कारता था, जो राजा का मूल्य अधिक बताकर चले गये थे। वह, इस बात का निश्चय न कर सका, कि यह दास मेरे साथ चलेगा; या नहीं ? चले या न चले, मै तो अपनी ओर से पूछ लूँ, ऐसी दृढ़ता धारण करके, भङ्गी राजा के पास आ कहने लगा—महाशय, मैं भङ्गी हूँ। मेरे यहाँ श्मशान की रखवाली का काम है। यदि आप मेरे यहाँ चलना स्वीकार करे, तो मैं आपको खरीद लूँ।

भङ्गी की बात सुनकर, राजा को रानी की बातो का स्मरण हो आया, जो उन्होंने जाते समय राजा से कही थीं। राजा मन मे कहने लगे, कि रानी मुझसे कहती ही थी, कि यदि

मुझे भङ्गी खरीदता, तो मैं उसके यहाँ भी चली जाती। जब वह भङ्गी का दासीत्व स्वीकार करने को तैयार थी, तो मुझे भङ्गी का दासत्व स्वीकार करने मे क्या हर्ज है ? मै, सत्य के हाथ बिक रहा हूँ, भङ्गी के हाथ नही।

इस प्रकार विचार कर राजा ने भङ्गी से कहा, कि मुझे आपका दासत्व स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही। आप जो आज्ञा देगे, मै उसका पालन करूँगा। आप, मुझे ख़रीद लीजिए और मेरा मूल्य इन ऋषि को चुका दीजिए।

राजा को, भङ्गी के हाथ बिकने को तैयार देख, विश्वामित्र के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उनकी यह अन्तिम आशा भी निराशा मे परिणत होगई। राजा का मूल्य न लगने से, विश्वामित्र विचारते थे, कि अब सूर्यास्त मे थोड़ा ही समय बाकी है, राजा को कोई खरीदता नही है, अत. विवश होकर वह अपना अपराध स्वीकार कर लेगा। लेकिन, जब राजा भङ्गी का दासत्व करने पर भी उतारू हो गया, तब तो विश्वामित्र की सारी आशा मिट्टी मे मिल गई। उन्होने एक बार और प्रयत्न करना उचित समझा। वे, राजा से कहने लगे—क्या भङ्गी के हाथ बिकेगा ?

राजा—मुझे, इस बात को नही देखना है, कि मैं किसके हाथ बिक रहा हूँ। मै तो यह देखता हूँ, कि आपके ऋण से मुक्त हो रहा हूँ। इसके सिवा—

विद्या विनय सम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शूनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

अर्थात्—जो पण्डित यानी ज्ञानी है, उनकी दृष्टि, विद्या

ब्राह्मण की दासी तारा
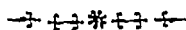
संसार मे जितने भी अच्छे कार्य हैं, वे कष्टसाध्य चाहे हो, लेकिन उनका भावी परिणाम अच्छा ही होता है। शुभ-कार्य के करने में जो कष्ट होते हैं, वे कष्ट, कष्ट नही, वरन् उस शुभ-कार्य के सफल होने की तपस्या है। बिना कष्ट सहे, शुभ-कार्य कदापि सफल नहीं होते। तप करना, दान देना, सत्य पालना आदि कार्यों के करने मे यदि कष्टो का भय किया जाय, तो कर्त्ता इन कार्यों को कभी कर ही नही सकता। अब यदि कोई यह कहे, कि कष्ट पाप से होते हैं, धर्म से नही; अत जिन कार्यों से कष्ट हों, वे पाप हैं, तो ऐसा कहनेवाले लोग इस विषय से नितान्त अनभिज्ञ हैं, ऐसा समझना चाहिए। उन्हें इसी पर से विचार लेना चाहिए, कि यदि सद्कार्य बिनाही कष्ट सफल होते हों, तो फिर संसार में बुरे-कार्य शेष ही क्यो रह जायँ ? कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो सरलतापूर्वक होनेवाले सद्कार्यों को छोड़-जिस कार्य को अपना आत्मा उचित बताकर करने की आज्ञा देता है उसे त्याग-कष्ट सहने के लिए पाप करेगा ? कौन

आप से यही आशीर्वाद चाहता हूँ, कि अवध की प्रजा को कष्ट न हो।

विश्वामित्र, राज्य लेने के समय से ऊपर से तो क्रोध प्रकट कर रहे हैं, लेकिन हृदय से तो राजा की प्रशंसा करके उसे धन्यवाद ही देते हैं। हरिश्चन्द्र की इस बात ने तो, उनके हृदय को और भी नम्र बना दिया। वे, मन-ही-मन कहने लगे—हरिश्चन्द्र, तुझे धन्य है। तूने भङ्गी का दासत्व स्वीकार किया, लेकिन सत्य को छोड़ना स्वीकार न किया। तुझे, जितना भी धन्यवाद दिया जाय कम है।

विश्वामित्र का ऋण चुकजाने पर, राजा को वैसी ही प्रसन्नता हुई, जैसी प्रसन्नता सिर का बोझ उतरने से होती है। उन्होंने परमात्मा को धन्यवाद दिया, कि हे प्रभो! तेरी ही कृपा से मैं सत्यपालन में समर्थ हुआ हूँ।

ब्राह्मण की दासी तारा

संसार मे जितने भी अच्छे कार्य हैं, वे कष्टसाध्य चाहे हो, लेकिन उनका भावी परिणाम अच्छा ही होता है। शुभ-कार्य के करने में जो कष्ट होते है, वे कष्ट, कष्ट नही, वरन् उस शुभ-कार्य के सफल होने की तपस्या है। बिना कष्ट सहे, शुभ-कार्य कदापि सफल नही होते। तप करना, दान देना, सत्य पालना आदि कार्यों के करने मे यदि कष्टो का भय किया जाय, तो कर्त्ता इन कार्यों को कभी कर ही नही सकता। अब यदि कोई यह कहे, कि कष्ट पाप से होते हैं, धर्म से नहीं, अत जिन कार्यों से कष्ट हों, वे पाप हैं, तो ऐसा कहनेवाले लोग इस विषय से नितान्त अनभिज्ञ है, ऐसा समझना चाहिए। उन्हे इसी पर से विचार लेना चाहिए, कि यदि सद्कार्य बिनाही कष्ट सफल होते हो, तो फिर ससार मे बुरे-कार्य शेप ही क्यो रह जायँ ? कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो सरलतापूर्वक होनेवाले सद्कार्यों को छोड-जिस कार्य को अपना आत्मा उचित बताकर करने की आज्ञा देता है उसे त्याग-कष्ट सहने के लिए पाप करेगा ? कौन

ऐसा होगा, जो सुख मिलनेवाले अच्छे कार्यों को न करके, दुःख मिलनेवाले बुरे कार्यों को करेगा ? इसके सिवा यदि कष्ट होने के कारण सद्कार्य पाप कहे जायँगे, तो उन कार्यों को, जिसमें कष्ट नही होता, अपितु सुख होता है, धर्म मानना पड़ेगा। लेकिन यह बात नही है। संसार मे, बुरे कार्य भी सुख की आशा से किये जाते है और लोग उन कार्यों मे भी सुख मानते हैं। जैसे व्यभिचार करना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि दुष्कार्यों को सभी बुरा कहते हैं, लेकिन इनका करनेवाला इनमे सुख मानता है। यदि वह इनमे सुख न माने, तो इन्हे करे ही क्यों ? क्योकि संसार मे प्रत्येक प्राणी जो कुछ भी करता है, सुख के लिए ही करता है। यह बात दूसरी है, कि वह भ्रमवश दु'ख के कारण को सुख और सुख के कारण को दु'ख मानता हो; लेकिन उसकी अभिलाषा सुख की ही रहती है। जैसे-योगी लोग योग मे सुख मानते हैं, लेकिन भोगी लोग भोग मे। जिन कामो के करने में काम का करनेवाला अपने आपको सुखी मानता हो, वे काम न तो नितान्त अच्छे ही हो सकते है, न नितान्त बुरे ही। इसी प्रकार जिन कार्यों को करते समय कर्त्ता को दु'ख होता हो, वे काम भी न तो नितान्त बुरे ही हो सकते है, न नितान्त अच्छे ही। कार्य की अच्छाई या बुराई उसके फल पर निर्भर है। ्ार्य के करते समय होनेवाले सुख-दुःख को देख या अनुमान ्के कार्य की अच्छाई-बुराई नही कही जा सकती। जैसे ्। ् करते समय, उसका कर्त्ता उसमे सुख मानता है, लेकिन उसका फल इस लोक में ही शरीर की दुर्बलता, हृदय की मलिनता आदि के रूप मे प्राप्त होता है, और परलोक मे

भी वह दण्ड पाता है। इसी प्रकार योग-साधन में, साधना के समय तो कष्ट होता है, लेकिन उसका फल इस लोक और पर-लोक दोनों ही जगह लाभप्रद है। साधन के पश्चात्, साधक स्वयं अपने आपको इस लोक मे ही सुखी मानना है। तात्पर्य यह, कि कार्य के करते समय होने वाले सुख-दुःख से, यह नहीं कहा जा-सकता कि यह कार्य धर्म है या पाप, किन्तु उसके फल के दुःख सुख पर से इस बात का निर्णय हो सकता है।

हरिश्चन्द्र और तारा ने जो कुछ किया है, वह सुख की अभि-लाषा से। अब, इस सुख की अभिलाषा मे, वे लोग जो कार्य कर रहे हैं, उसमे कष्ट अवश्य हो रहा है, लेकिन इसका अन्तिम फल सुख ही है। हरिश्चन्द्र को कष्ट हो रहा है, इस कारण से उनका सत्यपालने और राज्य देने का कार्य, तथा तारा का पतिसेवा का कार्य पाप नहीं कहा जासकता। ये कष्ट तो, सत्यपालन मे उसी प्रकार के कॉटे हैं, जो गुलाब का फूल प्राप्त करते समय हाथो मे लगा करते हैं। अब, यदि कोई मनुष्य कॉटे लगने के कारण गुलाब के उस फूल को, जिसमे सुगन्धि और कोमलता का गुण है, दुर्गन्धियुक्त और कठोर कहे तो यह कैसे उचित कहा जास-कता है? इसीप्रकार कष्ट होने के कारण, सत्य दान और पति-सेवा जिनका फल अच्छा है-पाप कैसे कहे जा सकते हैं? यदि ये पाप ही हो, तो फिर हरिश्चन्द्र को पुनः उनका राज्य मिलने और इन्द्रादि देवताओ के प्रार्थना व प्रशंसा करने आदि के सुख, किस धर्म के फल कहे जायॅगे? इससे प्रकट है, कि सद्कार्य कष्टसाध्य चाहे हो, लेकिन उनका फल सुखप्रद है, अतः सद्कार्य धर्म है और दुष्कार्यों के करने मे सुख चाहे मिलता,

हो, लेकिन उनका फल दुःखप्रद है, अतः वे पाप हैं।

हरिश्चन्द्र और तारा, सत्यरूपी गुलाब के पुष्प के लिए ही दुःखरूपी काँटे सह रहे है। इसीलिये उन्होने सहर्ष राज्य त्याग दिया, मजदूरी करने मे भी उन्हे कुछ लज्जा न हुई और बिकने में भी प्रसन्न ही रहे। उनका ध्येय तो सत्यपालन है। सत्यपालन में उन्हे कितने भी कष्ट हो, वे उन कष्टो को सहने के लिए तैयार हैं।

ब्राह्मण के हाथ बिककर, रोहित को लिये हुए तारा उसके घर आई। ब्राह्मण ने, अपनी स्त्री, पुत्रबधू आदि से तारा को बताकर कहा, कि मै यह दासी लाया हूँ।

ब्राह्मण के घर की स्त्रियें, तारा के रूप-सौन्दर्य को देख आश्चर्य में पड़ गई, कि जिसकी आकृति ही उसके बड़प्पन की सूचक है, वह दासी कैसे हुई? उन्होने इस विषय मे ब्राह्मण से पूछा, लेकिन ब्राह्मण ने उत्तर दिया, कि मैं स्वयं ही इस बात से अनभिज्ञ हूँ। जो प्रश्न तुम्हारे हृदय मे उठा है, वही प्रश्न मेरे हृदय मे भी उठा था, और मैने इससे पूछा भी था, लेकिन इसने अपना परिचय नही बताया। परिचय बतावे या न बतावे, आकृति से यह अपने घर के उपयुक्त जान पड़ी, अतः ले आया। इसके लक्षणो से जान पड़ता है, कि यह गुणवती है। इससे -कार्य कराना और देखना, कि यह विश्वास करने योग्य है नहीं।

ब्राह्मण ने, तारा को रहने के लिए एक छोटी-सी खोली बतादी और बिछाने के लिए एक छोटी-सी चटाई दे दी। घर पहुंचते-पहुँचते रात हो चुकी थी, इसलिए ब्राह्मण ने दया करके,

तारा से उस रात कुछ काम न लिया और उन्हे विश्राम करने की आज्ञा दी ।

उस छोटी-सी खोली मे, तारा ने ब्राह्मण की दी हुई चटाई बिछाकर रोहित को सुला दिया और स्वयं भी पतिवियोग और उनके कष्ट की चिन्ता करती हुई पड़ रहीं । वे विचार करने लगी, कि जैसी खोली में मै धर्मशाला मे रहती थी, वैसी ही यहाॅ भी है, वहाँ तो जमीन पर ही सोती थी, लेकिन यहाॅ चटाई भी है । रोहित जो नित्य मेरे पास सोता था, वह भी मेरे पास ही है । सूर्य भी वही है, चन्द्र भी वही है, ग्रह, तारे, आकाश, पृथ्वी आदि भी वही हैं, और मैं भी वही हूॅ, परन्तु बिना पति के ये सब अच्छे नहीं लगते । मैं धर्मशाला से यहाॅ किसी प्रकार दु ख मे नही हूॅ, लेकिन वहाँ नाथ थे, उनका मुखचन्द्र देखा करती थी, यह सुख था, जो यहाँ नही है । मै अपने ऋण से मुक्त होकर तो चली आई, लेकिन स्वामी पर न मालूम क्या बीती होगी । मुझ-सी अभागिनी कौन होगी, जो ऐसे समय मे पति-सेवा से वञ्चित है । अबतक तो मैं स्वामी की सेवा किया करती थी, उनके भोजनादिक की व्यवस्था रखती थी, और दु ख से घबराने पर उन्हे धैर्य दिया करती थी, किन्तु अब ये कार्य कौन करेगा ?

इस प्रकार विचारते-विचारते, रानी गम्भीर चिन्ता-सागर मे डूब गईं । कुछ देर तो वे इसी प्रकार चिन्ता-निमग्न रहीं, लेकिन थोडी देर बाद उन्हे ध्यान आया, कि पति को तो मै शिक्षा देती थी, परन्तु मुझे ही वियोगाग्नि ने जलाना प्रारम्भ कर दिया । मै, जिस सत्य का प्रभाव बतलाकर स्वामी को धैर्य बॅधाती थी, क्या वह सत्य अब उनकी सहायता न करेगा ? ऐसा कदापि नहीं हो

सकता। यह निश्चित है, कि सत्य उनकी सहायता अवश्य करेगा
मुझे, इस प्रकार की चिन्ता करने का कोई कारण नही है
अब भी वही सत्य हम लोगो का रक्षक है। इसके सिवा-मे
चिन्ता करने से कुछ लाभ तो होगा नही, हाँ, हानि अवश्य होगी
इस प्रकार चिन्ता करने से शरीर तथा बल क्षीण होगा और मे
क्यी को मैंने जिन कार्यों के करने का विश्वास दिलाया है, उ
कार्यो को न कर सकूँगी। इस प्रकार, मै उस सत्य से भ्रष्ट
जाऊँगी, जिसके लिए इतने कष्ट सहे है।

इस प्रकार हृदय मे धैर्य धारणकर, तारा उसी चटाई प
सो गई। नियमानुसार, थोड़ी-सी नींद लेकर, वे सूर्योदय
पहले ही उठ बैठी और परमात्मा का स्मरण करने लगी। वे क
रही है—हे प्रभो, तेरी ही कृपा से मुझ मे इतना धैर्य है, जो मैं इ
कष्टो को सहन कर रही हूँ। यदि तेरी सहायता न होती, तो इ
कष्टो के समय धैर्य छूट जाना स्वाभाविक था। मै, तुझे धन्यवा
देती और प्रार्थना करती हूँ, कि सत्य के पालन मे जितने भ
कष्ट हो, उनको सहन करने की मुझ मे शक्ति रहे।

परमात्मा की प्रार्थना करके तारा, ब्राह्मण के घर पहुँची
ब्राह्मण के घर के किवाॅड़ उस समय न खुले थे, वहाॅ सब लो
अभी सो ही रहे थे। तारा के किवाॅड़ खटखटाने पर उन लोग
किवाॅड़ खोले। तारा को सामने खड़ी देख, वे लोग आश्चर्य
साथ कहने लगे, कि दासी, तू अभी से आगई ? तू इतनी जल्
उठती है ?

तारा—मैं दासी हूँ। मेरा कर्त्तव्य है, कि मै स्वामी के उठ
से पहले उठकर उन कार्यों को कर डालूँ, जो पहले ही हो जा

चाहिएँ। आपलोग मालिक हैं, आपकी समता करके यदि मैं भी देर तक सोती रहूँ, तो काम कैसे चले ?

तारा ने पहले ब्राह्मण के घर, पशु-शाला आदि को झाड़ कर साफ कर दिया। पश्चात् रात का शेष पानी छानकर और पानी लाई और फिर बर्त्तन साफकर, रसोई बनाने लगी। तारा की बनाई हुई रसोई खाकर, ब्राह्मण के घर के सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। वे कहने लगे, कि यह दासी क्या,एक लक्ष्मी आई है। घर के सब काम इसने किस चतुरता से किये हैं,और रसोई भी कैसी अच्छी बनाई है ! रसोई बनाने की सामग्री तो वही है, जिससे नित्य रसोई बनती थी, लेकिन आजकी रसोई मे जो स्वाद आया है, वह कभी न आया था।

रसोई आदि कार्यों से निवटकर, तथा स्वयं भी खा-पीकर, तारा ब्राह्मण की स्त्रियो को उनके हृदय को प्रसन्न करनेवाली शिक्षाप्रद बातें और गाने सुनाने लगीं। ब्राह्मण के घर की स्त्रियें तारा के गायन तथा उनकी बातो से बड़ी प्रसन्न हुई और तारा की प्रशंसा करने लगी।

तारा, गृहस्थी के सब कार्यों को दक्षता पूर्वक करतीं। प्रत्येक वस्तु को स्वच्छ और यथास्थान रखती। पशुओ से भी वे ऐसा काम करतीं, और उनकी ऐसी व्यवस्था करतीं, कि घी-दूध की भी वृद्धि होगई। इस प्रकार अपनी कार्य-दक्षता से, तारा ने ब्राह्मण के यहाँ के सब लोगो की सहानुभूति प्राप्त करली।

तारा के, कुछ दिन तो ऐसी ही शांति से बीते, लेकिन अभी उनकी परीक्षा बहुत-कुछ शेष है। अभी, उन पर विपत्ति के बादल फिर भी मँडरा रहे हैं।

ब्राह्मण का युवक-पुत्र, तारा के सौंदर्य और उनकी चातुरी पर मुग्ध हो गया। वह विचारने लगा, कि यह दासी शृंगार के बिना ही इतनी सुन्दर जान पड़ती है, तो शृंगार करने पर कितनी सुन्दर जान पड़ेगी? अत इस स्त्री-रत्न को तो अपना लेना ही उचित और बुद्धिमानी है।

ब्राह्मणपुत्र के हृदय मे, तारा को अपनी प्रेयसी बनाने की अभिलाषा दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। वह, तारा के साथ इसी अभिलाषा को लिए हुए बातचीत करने लगा। तारा, हजारों स्त्री-पुरुषो को देख चुकी थी, इससे वे ब्राह्मण-पुत्र की दृष्टि को ताड़ गईं और उससे बचकर रहने लगी। वे, ब्राह्मणपुत्र से न तो दृष्टि ही मिलाती, न अनावश्यक बातचीत ही करती। ब्राह्मण-पुत्र ने जब देखा, कि यह दासी, मेरी ओर देखती भी नही है, न मुझसे बातचीत ही करती है, तब उसने तारा को लोभ द्वारा अपने वश मे करने का उपाय सोचा।

संसार में, जो मनुष्य निर्लोभी है, जिसकी लोभवृत्ति शांत है, उस मनुष्य को कोई भी अपने धर्म और कर्त्तव्य से विमुख नहीं कर सकता। धर्म से हटाकर पाप में प्रवृत्त करनेवाला, लोभ ही है, फिर वह लोभ चाहे जिस प्रकार का हो। लोभ के ही कारण लोग धर्म से पतित हो जाते हैं। लेकिन वे तारा, जिन्होंने धर्म के लिए राज-सुख और पति-सुख का भी लोभ नही किया, थोड़े से लोभ पर कैसे आसक्त हो सकती थीं? लोभ को तो उन्होंने पहले ही जीत लिया था, इसीसे वे अपने पति के सत्य की रक्षा और अपने कर्त्तव्य के पालन मे समर्थ हो सकी थी। अस्तु।

ब्राह्मणपुत्र, एक अच्छी-सी साड़ी लाकर, तारा को दे, कहने

लगा, कि तुम इस साड़ी को पहना करो, ये मोटे-कपड़े तुम्हारे शरीर पर शोभा नहीं देते। तारा, ब्राह्मणपुत्र की दृष्टि को पहले ही ताड़ चुकी थी, इसलिए उन्होंने साड़ी लौटाते हुए उत्तर दिया, कि आप यह साड़ी मालकिन को दीजिए। हम दासी हैं, हमें महीन और अच्छे कपडे पहनना इसलिए उचित नहीं है, कि इनसे आलस्य पैदा होता है और आलस्य से स्वामी के कार्य मे बाधा होती है। हमे तो मोटा-कपड़ा पहनना ही उचित है।

तारा के उत्तर को सुनकर, ब्राह्मणपुत्र को कुछ निराशा हुई। वह विचारने लगा, कि मै सोचता था, कि यह इस साड़ी पर ललचा जायगी, लेकिन इसने तो इस साड़ी को ठुकरा दिया!

ब्राह्मणपुत्र, निराश होकर भी, अपनी अभिलाषा की पूर्त्ति के उद्योग में लगा रहा। वह, कभी-कभी तारा या रोहित को अच्छे-अच्छे पकवान और कुछ रुपये-पैसे देने लगता, परन्तु उन्हे न तो रोहित ही लेता, न तारा ही। पकवानादि के लिए तारा तो कह देती, कि हमे पकवान की जगह मोटा अनाज खाना उचित है, पकवान आप मालकिन को खिलाइए। तथा जब आपके यहाँ से भोजन-वस्त्र मिलता ही है, तब रुपये-पैसे की हमें क्या आवश्यकता है? उधर रोहित कह देता, कि मेरा भोजन माता के ही भोजन में है, अलग नहीं। जब मैं भोजन भी नहीं ले सकता, तब रुपये-पैसे क्योंकर ले सकता हूँ?

लोभ द्वारा तारा को अपने वश करने के उपाय में भी, जब ब्राह्मणपुत्र असफल रहा, तब उसने धर्म का आश्रय लिया। वह, एकान्त में पुस्तकें खोलकर बैठ जाता और तारा से कहता, कि दासी, आओ तुम्हें धर्म सुनाऊँ।

दुष्ट लोग, धर्म को भी दुराचार की ढाल बनाते हैं। अनेकों ऐसी घटनाएँ आज भी सुनने मे आती है, जिनमे धर्म के नाम पर या धर्म की ओट मे दुराचार किया गया हो। भोले-भाले लोग, धर्म-वेशधारी लोगो पर विश्वास करके उनके चक्कर में आजाते हैं, लेकिन केवल वेश पर विश्वास करलेना भी, बुद्धिमानी नही है। तुलसीदासजी ने कहा है—

तुलसी देखि सुवेश, भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुन्दर केकी पेख, वचन अमिय सम अशन अहि॥

अर्थात्—केवल अच्छे वेश को देखकर, मूढलोग धोखा खाते है, चतुर लोग नही। अच्छे वेशधारियो मे भी क्या दुर्गुण हो सकते है, इसके लिए मोर को देखो। मोर, देखने मे कैसा सुन्दर होता है, उसकी वाणी भी अमृत के समान होती है, किन्तु यह सबकुछ होते हुए भी उसका भोजन साँप है। अर्थात्, वह ऐसे कठोर हृदयवाला है, कि जीवित सर्प को भी खाजाते है।

सारांश यह, कि धर्म-वेशधारी का भी, परीक्षा किये बिना एकदम अविचारपूर्वक विश्वास कर लेने से, धोखा होने की संभावना रहती है। कभी-कभी ऐसे धोखे मे पड़कर, मनुष्य धर्म-भ्रष्ट भी हो जाता है। अस्तु।

ब्राह्मणपुत्र, तारा को धर्म-कथा सुनाने के लिए बुलाता, लेकिन तारा उससे कह देती, कि धर्म सुनने की आवश्यकता उसके लिए है, जो धर्म न जानता हो। मेरा धर्म आप लोगो की सेवा करना है, जो मैं समझती और करती हूँ। मुझे धर्म सुनने की आवश्यकता नही है, न मेरे पास इतना समय ही है, कि मै धर्म सुन सकूँ।

ब्राह्मणपुत्र, जब इस उपाय से भी तारा को अपनी ओर

आकर्षित करने में असमर्थ रहा, तब वह और कोई उपाय सोचने लगा। उसने विचारा, कि स्त्री का प्रेम अपने पुत्र पर अधिक रहता है। पुत्र के होते हुए, वह किसी भी बात की अपेक्षा नहीं करती। इस दासी की भी यही दशा है। इसका भी प्रेम इसके पुत्र पर ही है। मुझसे और इससे प्रेम होने देने में, यह पुत्र ही बाधा है। किसी प्रकार यह दूर हो जाय, तब मै अपने कार्य में सफल हो सकूँगा।

रोहित को, अपने मनोरथ का बाधक समझ, ब्राह्मणपुत्र उसे कष्ट देने लगा। वह, कभी तो, रोहित से ऐसे काम करने को कहता, जिन्हे कर सकना रोहित की सामर्थ्य की सीमा से बाहर की बात होती, कभी किसी बहाने उसे इधर-उधर भटकाता, कभी धमकाता कभी मारता और कभी चुटकी काटता। रोहित, एक तो वैसे ही तेजस्वी का बालक था, दूसरे होनहार था और परिस्थिति को समझने लगा था। इसी कारण, वह ब्राह्मणपुत्र के अत्याचारो को चुपचाप सह लेता; लेकिन, तारा को अपने पुत्र पर ब्राह्मणपुत्र द्वारा अत्याचार होते देख दुःख होता। एकदिन उन्होंने ब्राह्मणपुत्र से नम्रतापूर्वक प्रार्थना की, कि यह रोहित अभी बालक है। आप इससे जो काम कहा करते हैं, उनके करने में यह असमर्थ है। इसके सिवा आपके यहाँ मै काम करने आई हूँ, सो मै काम करती ही हूं। यह बालक, मेरे ही भोजन मे से भोजन खाता है इसके लिए मैं भोजन भी पृथक् नहीं लेती हूँ, ऐसी अवस्था में आपका इसे कष्ट देना उचित नहीं है। यह बात दूसरी है, कि रोहित अपनी इच्छा से स्वयं काम करे, लेकिन इस प्रकार इस पर अत्याचार करना, न्यायोचित-कार्य नहीं कहला सकता!

कृपा करके, आप इस बालक पर दया रखिए और इसे कष्ट न दीजिए।

ब्राह्मणपुत्र ने, तारा की इस प्रार्थना के उत्तर मे कहा—मैं जब अच्छा खाना और अच्छा कपड़ा आदि देता हूँ, तुम्हें धर्म-कथा सुनाने के लिए बुलाता हूँ, तब तो तुम अकड़ी-अकड़ी फिरती हो और अब ऐसा कहती हो?

तारा—आप मुझे जो कुछ देना चाहते थे, वह आपकी कृपा थी, लेकिन मैंने उन्हे नहीं लिया, तो इसमे मेरी ही हानि हुई, आपकी क्या हानि हुई, जो आप क्रुद्ध हो?

ब्राह्मणपुत्र, तारा की इन बातो से कुछ क्रुद्ध हो उठा। उसने, अपने घर की स्त्रियो से कहा, कि दासी के लिए जो भोजन दिया जाय, वह मुझे बताकर दिया जाय। यह स्वयं कहती है, कि ज्यादा खाने से आलस्य पैदा होता है, जिससे स्वामी के कार्य मे बाधा पहुँचती है। अतः इसे ज्यादा और अच्छा भोजन देना ठीक नहीं है।

तारा को, अबतक एक मनुष्य के खाने इतना भोजन मिलता था और उसीमे वे पुत्र सहित अपना निर्वाह करती थी। लेकिन, ब्राह्मणपुत्र अब इतना भोजन देने लगा, कि जिससे एक मनुष्य की क्षुधा भी पूर्णतया न मिट सके। तारा, भोजन लाकर, रोहित को खाने के लिए बैठा देती। रोहित, स्वभावानुसार, माँ से भी खाने को कहता, परन्तु तारा उसे समझा देती, कि तुम खालो, फिर मै सब भोजन खा लूँगी। कभी-कभी, जब रोहित हठ करके कहता, कि यदि तुम न खाओगी, तो मै भी न खाऊँगा, तब

तारा छोटे-छोटे ग्रासों से खाने लगती। धीरे-धीरे रोहित समझता चला, कि मेरी माता मेरे लिए भूखी रहती है।

ब्राह्मणपुत्र, तारा को कम भोजन देकर भी शान्त न हुआ। वह, उनसे अधिकाधिक काम लेने लगा। एक दिन, उसने तारा को गङ्गा से जल भर लाने की आज्ञा दी। तारा, मालिक की आज्ञा उल्लंघन करना तो जानती ही न थीं, इसलिए वे घड़ा लेकर गंगा को जल भरने गईं।

जिन रानी को, पीने के लिए भी हाथ से जल नहीं लेना पड़ता था, उन्हीं रानी को, आज स्वयं नदी से जल भरने जाना पड़ रहा है। लेकिन, ये सब वे सत्य के लिए कर रही हैं, इसलिए उन्हे इसका किञ्चित भी दुःख नहीं है।
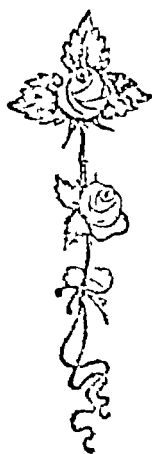
भंगी के दास हरिश्चन्द्र
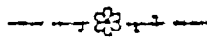
संसार मे, सेवा के बराबर कोई कठिन कार्य नहीं है। जो मनुष्य अपने आत्मा का अच्छी तरह दमन कर सकता है, स्वामी की इच्छा के अनुसार अपने स्वभाव को बना सकता है, वही सेवाधर्म का पालन कर सकता है, दूसरा नहीं। सेवाधर्म कितना कठिन है, इसके लिए भर्तृहरि कहते है —

मौनान्मूकः प्रवचनपटूश्चाटुको जल्पको वा ।
धृष्टः पार्श्वे वसातिच तदा दूरतश्चाप्रगल्भः ॥
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्र यशो नाभि जातः ।
सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः ॥

अर्थात्—सेवक यदि चुप रहता है, तो स्वामी उसे गूँगा, ता है तो बकवादी, पास रहता है तो ढीठ, दूर रहता है तो , सह लेता है तो डरपोक और नही सहता है तो उसे नीच- का कहता है। मतलब यह, कि सेवा-धर्म बड़ा ही कठिन है, योगियो के लिए भी यह अगम्य है।

सेवा के नाम से घबराकर एक और कवि कहते हैं —

चाहे कुटी अति घने वन में बनावे,
चाहे बिना लोन कुत्सित अन्न खावे।
चाहे कभी नर नये पट भी न पाये,
'सेवा' प्रभो पर न पर तृ पर की करावे।'

अयोध्या ऐसे विशाल-राज्य के स्वामी महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा, इस समय इसी कठोर सेवाधर्म का पालन कर रही हैं। उनके हृदय मे क्या-क्या विचार होते होंगे, यह तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन जिसके समीप कभी हजारों सेवक रहते हो और फिर उन्हे स्वयं ही सेवक बनना पडे, ऐसी स्थिति में उनके हृदय मे क्या-क्या भाव उत्पन्न हो सकते हैं, यह अनुमान से जाना जा सकता है। परन्तु, इनकी इस स्थिति के विषय में जिस कष्ट का अनुमान किया जा सकता है, इन दोनों को वह कष्ट उस रूप मे अनुभव नहीं होता। वे तो यही समझते हैं, कि ये कष्ट सत्य के चले जाने के कष्ट से कहीं लाख दर्जे अच्छे हैं। हमे तो कष्ट तब हो सकता है, जब हमारा सत्य न रहे। जबतक हमारा सत्य बना हुआ है, तबतक हमे कोई कष्ट नहीं है। जिस प्रकार एक तपस्वी को तपस्या करते देख, और लोग तो समझते हैं, कि इन्हे कष्ट हो रहा है, ये कष्ट सह रहे हैं, लेकिन तपस्वी से पूछने पर वह यही कहेगा कि मुझे कोई कष्ट नहीं है, मैं तो तपस्या कर रहा हूँ। ठीक यही बात राजा और रानी के विषय में भी है। देखने-सुनने वाले तो समझते हैं, कि इन्हे कष्ट हो रहा है, लेकिन वे कह रहे हैं, कि हमे कष्ट तब है, जब हमारा सत्य न रहे। जबतक हममे सत्य है, तबतक हमे कोई कष्ट नहीं है। अस्तु।

भंगी से विश्वामित्र को पाँच सौ स्वर्ण, मुद्राएँ दिला और विश्वामित्र के ऋण से मुक्त होकर, महाराजा हरिश्चन्द्र, भंगी के साथ उसके घर आये। उनके हृदय मे, न तो किसी प्रकार की ग्लानि है, न सङ्कोच। विश्वामित्र के ऋण से मुक्त हो जाने के कारण, उनका चित्त प्रसन्न है और वे परमात्मा को अनेको धन्यवाद देते है, कि तेरी कृपा से मेरा सत्य रह गया। तारा के हृदय मे जो वीरता तथा धीरता थी, उसने मुझे जो शिक्षाएँ दी थीं, वह तेरी ही कृपा थी। तेरी ही कृपा से, तारा ऐसी स्त्री मिली जिसने मुझे सत्य पर स्थिर रखा।

घर आकर, भंगी ने अपनी स्त्री से कहा कि ये विपद्ग्रस्त सत्पुरुष अपने यहाँ आये हैं। इनको नौकर न समझकर जो कुछ बने इनकी सेवा करना और इनके साथ कभी अनुचित व्यवहार न हो, इसका ध्यान रखना। किसी कवि ने कहा है, कि हंस का तो दुर्भाग्य है, जो उसे तलैया पर आना पड़ा, लेकिन तलैया के तो सद्भाग्य ही हैं, कि उसके यहाँ मान-सरोवर पर रहने वाला हंस मिहमान आया है। इसी के अनुसार इन सत्पुरुष के तो दुर्भाग्य हैं, जो इन्हे अपने यहाँ आना पड़ा, परन्तु अपने तो सद्भाग्य ही हैं, जो ऐसे पुरुष अपने यहाँ आये हैं।

भंगी ने, अपनी स्त्री को यद्यपि राजा के विषय मे अच्छी- समझाया, लेकिन कर्कशा-स्त्रियो पर ऐसे समझाने का क्या ाव हो सकता है? भंगिन का स्वभाव कर्कश था, इसलिए पति के समझाने पर, जहाँ उसे राजा के प्रति सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए थी, वहाँ वह अपने पति के समझाने का उल्टा ही अर्थ करने लगी। वह कहने लगी, कि जब इससे काम नही लेना था,

। पाँच सौ मुहरें खर्च करके क्या इसे सूरत देखने को खरीदा ? मेरे आभूषणादि के लिए तो पाँचसौ मुहरे खर्च नहीं होतीं, और इस पापी के लिए अकारण ही पाँच सौ मुहरे खर्च करदी ।

कर्कश-स्वभावानुसार भंगिन, अपने पति पर क्रुद्ध हुई । भंगी ने, उसे पुन. समझा-बुझाकर और डाट-फटकार दिखाकर शान्त किया ।

भंगी के यहाँ राजा के कुछ दिन इसी प्रकार बीते । राजा, अपने स्वामी भंगी से कहा करते कि मुझे काम बतलाइए । बिना काम किये, न तो मेरा समय ही शान्ति से बीतता है, न ऐसा करना दास-प्रथा के अनुकूल ही है । लेकिन भंगी, राजा को यही उत्तर देता, कि बस, आप बैठे रहा कीजिए और जहाँ इच्छा हो, वहाँ घूमते रहिए, तथा समय-समय पर आपके मुख से मुझे दो शब्द सुना दिया कीजिए, यही आपका काम है ।

राजा, भंगिन से भी काम माँगा करते, लेकिन भंगिन काम देने की जगह और कुड़कुड़ाने लगती । एक दिन, राजा के काम माँगने पर भंगिन ने, क्रोधावेश में राजा को घड़ा लेकर पानी भर लाने की आज्ञा दी । राजा, बड़े ही प्रसन्न हुए, कि क्रोधित होकर भी मालकिन ने काम तो बताया । वे, हर्ष-सहित घड़ा उठाकर पानी भरने चलदिये और उसी पनघट पर पहुँचे, जहाँ ब्राह्मणपुत्र की भेजी हुई तारा, जल भरने आई थी ।

सच्चे-प्रेमी, कभी-न-कभी, किसी-न-किसी अवस्था में मिल ही जाते हैं । यदि हृदय में सच्चा प्रेम है, तो वह प्रेमी से अवश्य मिल जाता है । परमात्मा से जिसका प्रेम सच्चा है, उसे परमात्मा न मिले, यह बात असम्भव है । सच्चे-प्रेम वाला, परमात्मा

से मिलता ही नहीं, किन्तु मिलकर उसी में लीन हो जाता है। सारांश यह कि जिस वस्तु से सच्चा और निष्काम प्रेम है, वह वस्तु अवश्य मिल जाती है। इसी के अनुसार, वे राजा और रानी, जिन्हें एक दूसरे की खबर भी न थी कि कहाँ है, तथा इस बात की आशा भी न थी, कि फिर कभी एक दूसरे को देख सकेंगे, आज अनायास ही पनघट पर मिल गये।

पति-पत्नी ने, एक-दूसरे को देखा। प्रेमी के दर्शन होने पर कितना आनन्द होता है, इस बात को प्रेमी ही जानते है, दूसरा नहीं बता सकता। इसी के अनुसार राजा और रानी को भी एक दूसरे को देखकर आनन्द हुआ। इस आनन्द के साथ ही, यह विचार कर विषाद भी हुआ, कि जो राजा थे और जो रानी थीं, उन्हें आज पानी भरना पड़ रहा है। लेकिन, दर्शन के आनन्द ने इस विषाद को दबा दिया।

पति-पत्नी ने, एक-दूसरे के कुशल-समाचार पूछे। रानी ने, राजा से, विश्वामित्र का शेष ऋण कैसे चुकाया, यह पूछा। राजा ने उत्तर दिया, कि तुम्हारे बतलाये हुए मार्ग पर चलकर, मैंने शेष ऋण चुका दिया। तुमने, मानो भविष्य जानकर ही यह कहा था, कि सत्य के लिए मै भगो के यहाँ भी बिक सकता हूँ। तुम्हारे निर्देशानुसार, मैंने भंगी के यहाँ बिककर ऋण चुकाया है।

पति-पत्नी, दोनो के हृदय मे अपार आनन्द है। वे, इस आनन्द का कारण, स्वामी-आज्ञा-पालन को मानकर, अपने-अपने क्रयी की प्रशंसा कर रहे हैं। राजा विचारते है, कि यदि मालकिन मुझे पानी भरकर लाने की आज्ञा न देती, तो रानी से मिलने का आनन्द मुझे कहाँ से प्राप्त होता? इसी प्रकार रानी विचारती

है, कि यदि मालिक मुझे पानी भरने न भेजता, तो यह पतिदर्शन का आनन्द, जो मुझे प्राप्त हुआ है, कैसे प्राप्त होता? और पति के विषय में—उन्होंने शेष ऋण कैसे चुकाया होगा, तथा वे कहाँ और किस दशा मे होंगे—आदि जो चिन्ताएँ थी, वे कैसे मिटतीं? यह सब आनन्द, अपने क्रयी की आज्ञा-पालन का ही फल है।

हर्ष-विषाद मग्न दम्पति, कुछ देर तक इसी प्रकार बात-चीत करते रहे। पश्चात्, तारा ने हरिश्चन्द्र से कहा—नाथ, यद्यपि आप से दूर होने की इच्छा तो नहीं है, लेकिन जिस प्रकार आप स्वतन्त्र नहीं, किन्तु परतन्त्र है, उसी प्रकार मैं भी परतन्त्र हूँ। पानी भरने के लिए आये देर हो चुकी है, अतः अब अधिक देर करना मालिक को धोखा देना है।

रानी की बात का राजा ने भी समर्थन किया और कहा, कि अच्छा, तुम भी जाओ और मैं भी जाता हूँ। यदि जीवित हैं, तो फिर कभी मिलेंगे ही।

राजा और रानी, दोनो ने अपने-अपने घडे जल से भरे। रानी, ब्राह्मण के घड़े लेकर आई थी इसलिए पनघट पर उपस्थित स्त्रियों ने उन्हें तो घड़े उठवा दिये, लेकिन राजा भङ्गी का घटा लेकर आये थे, इसलिए उनका घडा किसी ने न उठवाया। राजा को पानी भरने का यह पहला ही दिन था। वे, घडा उठाने में अभ्यस्त न थे। उन्होंने, रानी से घडा उठवा देने के लिए कहा, लेकिन रानी ने उत्तर दिया—नाथ, मुझे आपसे किसी प्रकार की घृणा नहीं है। आप, मेरे रोम-रोम मे बस रहे हैं, लेकिन मैं ब्राह्मण के घड़े लेकर आई हूँ और आप भङ्गी का घटा लेकर आये हैं, इसलिए, मैं बिना स्वामी की आज्ञा के आपको घ

चढाने मे असमर्थ हूँ। आप, इस घड़े को लिए हुए जल मे चले जाइये। जल मे वस्तु भारी नहीं जान पडती। वहाँ झुककर, आप इसे अपने कन्धे पर रख लीजिए।

रानी की बात सुनकर, राजा बहुत ही प्रसन्न हुए। वे कहने लगे, यदि तुम आज मुझे सेवा-धर्म को छोडकर घडा चढा भी देती, तो मेरे लिए भविष्य का कष्ट फिर बाकी रह जाता। लेकिन यह युक्ति बताकर, तुमने इस विषय मे सदा के लिए मेरा मार्ग साफ कर दिया और अपना धर्म बचा लिया।

पति-पत्नी, अपने-अपने घड़े उठाकर चल दिए। राजा को, आज मालकिन द्वारा कार्य मिलने और विपत्ति के समय, बहुत दिनो की बिछुड़ी हुई पत्नी के दर्शन होने से बड़ी प्रसन्नता है। लेकिन राजा के सत्य की कसौटी होना अभी शेष है, इसलिए उनकी यह प्रसन्नता, अधिक देर तक न रही। जिस दुष्ट देव ने, राजा को-सत्य से विचलित करने के लिए-इतने कष्ट मे डाला था, उसने घड़ा लेकर जाते हुए राजा को, एक ऐसी ठोकर लगने की व्यवस्था की, कि जिसके लगते ही राजा गिर पड़े और घडा फूट गया। घड़े के फूटते ही, राजा की सब प्रसन्नता चिन्ता मे परिणत होगई। वे विचारने लगे, कि मालकिन ने, मेरे अनेक बार प्रार्थना करने पर बहुत दिनो के बाद, पहली ही मर्तबा आज काम बताया था, लेकिन आज ही काम बिगड़ गया। इस ।ध के कारण, वे अब न मालूम क्या कहेगी। जो होना था सो हुआ। मैंने जान-बूझकर तो घड़ा फोड़ा नही, फिर भी मालकिन अपने अमृतमय-वचन द्वारा जो कुछ कहे, वह सुनना ही होगा।

राजा, खाली हाथ, भङ्गी के यहाँ आये। भङ्गिन, राजा को

देखते ही रुष्ट हो कहने लगी, कि इतनी देर कहाँ लगाई और पानी का घडा कहाँ है ?

राजा—मालकिन, क्षमा करिए। यह अभागा-सेवक जल का घड़ा लेकर आता तो था बडी सावधानी से, लेकिन मार्ग मे ठोकर लगजाने के कारण, घडे सहित गिर पडा, इससे घडा फूट गया।

घडे का फूटना सुनकर, भङ्गिन की क्रोधाग्नि भभक उठी। उसने, कर्कश स्वर मे राजा को अनेक दुर्वाक्य कहे, लेकिन राजा उनको चुपचाप सहते रहे।

धर्मपालन के समय, यदि मनुष्य मानापमान का विचार करे, तो वह धर्मपालन मे समर्थ नहीं हो सकता। धर्म का पूर्णतया पालन वही मनुष्य कर सकता है, जो कष्ट सहने मे धीर और बात सुनने के लिए गम्भीर हो, तथा जिसे मानापमान का विचार न हो। हरिश्चन्द्र, सत्यपालन के लिए यदि मानापमान का विचार करते, अयोध्या को ही न छोडते. भङ्गी के यहां न बिकते, या भङ्गिन की बात को न सह सकते, तो कभी से सत्य-भ्रष्ट हो गये होते। लेकिन, धैर्यवान पुरुष न तो सुख को सुख ही समझते हैं, न दुःख को दुःख ही। वे, प्रत्येक दशा मे समभाव रखते हैं। किसी कवि ने कहा है—

> क्वचिद्भूमौ शय्या, क्वचिदपि च पर्य्यंक शयनं।
> क्वचिच्छाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदन रुचि॥
> क्वचित् कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बर धरो।
> मनस्वी कार्यार्थी, न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

अर्थात्—कभी भूमिपर ही पड़ रहते हैं और कभी सुन्दर पलंग पर सोते है। कभी सागपात खाकर ही गुजर करते हैं और कभी रुचिपूर्वक सुन्दर दालभात का भोजन करते है। कभी फटी हुई गुदड़ी पहनकर ही रह जाते है और कभी दिव्य सुन्दर-वस्त्र धारण करते हैं। इन सारी दशाओ मे से किसी को भी मनस्वी तथा कार्यार्थी-पुरुप सुख या दुःख नही गिनते। अर्थात्—प्रत्येक दशा मे समभाव रखते है।

इसी प्रकार, राजा को मानापमान, दुःख-सुख वियोग-मिलन आदि का ध्यान नही है, उन्हे तो सत्यपालन का ध्यान है। वे तो यही विचारते है, कि चाहे जितनी गालिये सुननी पड़े, चाहे जितना अपमानित होना पड़े, और चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें, लेकिन मुझसे सत्य न छूटे। इसी विचार से, वे भङ्गिन के कटु, शब्दो को सहते हुए भी उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, कि मालकिन की इस कृपा के कारण ही, आज मुझे रानी के दर्शन हुए।

जिस समय भङ्गिन क्रोधित होकर राजा को दुर्वाक्य सुना रही थी, उसी समय भंगी भी बाहर से आगया। राजा के प्रति, अपनी स्त्री का ऐसा दुर्व्यवहार उसे असह्य हो उठा। वह डण्डा लेकर अपनी स्त्री को मारने दौड़ा और कहने लगा, कि मैंने तुझे समझाया, फिर भी तू नही समझी, अतः मै तुझे घर से निकाले देता हूँ।

स्वामिनी पर स्वामी को क्रुद्ध देख, राजा दोनो के बीच में खडे हो कहने लगे—स्वामी, आप इन्हे कुछ न कहिए। मैं, आपसे सदा काम माँगा करता था, लेकिन आपने आजतक कभी

काम न बताया। आज, इन्होंने कृपाकरके काम बताया, तो उस काम के लिए जहाँ मैं गया था, वहाँ मुझे जो आनन्द प्राप्त हुआ, वह मैं किसी प्रकार भी वर्णन नहीं कर सकता। अब, यदि ये मुझपर क्रुद्ध हो रही हैं, तो इसमें इनका कोई दोष नहीं है। यदि, मैं घड़ा न फोड़ आता, तो ये क्रुद्ध क्यों होतीं? मैं घड़ा फोड़ आया, मैंने सावधानी नहीं रक्खी, इसके बदले में यदि ये क्रुद्ध हों, तो अनुचित ही क्या है? आप मुझ पर दया करिए और मेरी प्रार्थना स्वीकार करके इन्हें कुछ न कहिए।

भंगी और भंगिन, राजा की बात सुनकर आश्चर्य-चकित रह गये। भंगिन विचारने लगी, कि मैंने इन्हें इतनी गालियाँ दीं, इतने दुर्वाक्य कहे, फिर भी यह मेरी प्रशंसा ही कर रहा है! इधर भंगी विचार रहा है, कि ये अपनेको गाली देनेवाली का भी पक्ष कर रहे हैं, कैसे विचित्र मनुष्य हैं।

राजा का कहना मानकर, भंगी ने अपनी स्त्री को पीटने तथा निकालने का विचार छोड़ दिया और राजा की प्रशंसा करता हुआ, वह उनसे कहने लगा—महाराज, यह दुष्टा आपको सदा दुर्वाक्य कहा करती है। इधर आप सदैव काम भी माँगा करते हैं। अतः आप इसके समीप न रहकर, श्मशान-भूमि को चले जाइए। वहाँ आप उसकी रखवाली करते रहिए और वहाँ आनेवाले मृतक का अग्नि-संस्कार होने के पहले, मृतक को लानेवाले से लकड़ी के मूल्य-स्वरूप एक टका कर ले लिया कीजिए और उसे श्मशान में से लकड़ी आदि दाह-सामग्री देकर, अग्नि-संस्कार होने दिया कीजिए। मरघट पर रहने जाने से, आपको काम भी मिल जायगा और इस कर्कशा के पंजे से भी आप बच जावेंगे।

स्वतन्त्र-रोहित

—❀—
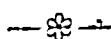
प्रत्येक प्राणी मे, स्वतन्त्रता की भावना भी एक प्रकृतिदत्त श्रेष्ठ-गुण है। इसी कारण, स्वतन्त्रता का अधिकार सब को प्राप्त है। लेकिन, परतन्त्रता के संस्कारो से, यह गुण धीरे-धीरे लुप्त होता जाता है और ऐसे परतन्त्र-प्राणी परतन्त्रता मे ही आनन्द मानने लगते हैं। यद्यपि स्वतन्त्रता अच्छी और परतन्त्रता बुरी है, लेकिन परतन्त्रता के संस्कारो के कारण, यह अच्छाई-बुराई नहीं दीखती, और ऐसे जीव परतन्त्रता को ही अच्छी समझते हैं। उदाहरणार्थ—भारत को ही देखिए। इतिहासानुसार, भारतवासी एक विशेष-समयमे परतन्त्रता या गुलामी की जंजीर मे जकड़े हुए है। इस संस्कारवश, यहां के निवासियों में से अधिकांश लोग ऐसे सुने जाते है, कि देश में स्वतन्त्रता की लहर दौड़ जाने पर भी, वे लोग स्वतन्त्रता के विरोधी और परतन्त्रता के समर्थक है। उनके संस्कार ही ऐसे है, कि वे परतन्त्रता मे दुःख का अनुभव ही नही करते। इसके विरुद्ध, जो मनुष्य स्वतन्त्रता का थोड़ा आभास भी पाजाता है, उसके लिए गुलामी सर्प के समान [illegible] होजाती है। अस्तु।

स्वामी की आज्ञा पाकर, राजा श्मशान-भूमि को चले गये और वहाँ रहकर स्वामी की आज्ञा का पालन करने लगे।

स्वतन्त्र-रोहित

प्रत्येक प्राणी मे, स्वतन्त्रता की भावना भी एक प्रकृतिदत्त श्रेष्ठ-गुण है। इसी कारण, स्वतन्त्रता का अधिकार सब को प्राप्त है। लेकिन, परतन्त्रता के सस्कारो से, यह गुण धीरे-धीरे लुप्त होता जाता है और ऐसे परतन्त्र-प्राणी परतन्त्रता मे ही आनन्द मानने लगते हैं। यद्यपि स्वतन्त्रता अच्छी और परतन्त्रता बुरी है, लेकिन परतन्त्रता के सस्कारो के कारण, यह अच्छाई-बुराई नहीं दीखती, और ऐसे जीव परतन्त्रता को ही अच्छी समझते हैं। उदाहरणार्थ—भारत को ही देखिए। इतिहासानुसार, भारतवासी एक विशेष-समयसे परतन्त्रता या गुलामी की जंजीर मे जकडे हुए हैं। इस संस्कारवश, यहाँ के निवासियो में से अधिकांश लोग ऐसे सुने जाते हैं, कि देश में स्वतन्त्रता की लहर दौड़ जाने पर भी, वे लोग स्वतन्त्रता के विरोधी और परतन्त्रता के समर्थक हैं। उनके संस्कार ही ऐसे है, कि वे परतन्त्रता मे दुःख का अनुभव ही नहीं करते। इसके विरुद्ध, जो मनुष्य स्वतन्त्रता का तनिक आभास भी पाजाता है, उसके लिए गुलामी नर्क के समान दुःखदायी होजाती है। अस्तु।

राजा हरिश्चन्द्र और रानी तारा, यद्यपि इस समय परतन्त्र हैं, दास हैं, लेकिन उनकी भावना स्वतन्त्र ही है। वे, सत्य न छूटे, इसलिए विवश होकर परतन्त्र हुए हैं। लेकिन रोहित तो परतन्त्र रहने के लिए बाध्य न था, अतः उसने स्वतन्त्रता-देवी की उपासना छोड़नी स्वीकार न की।

रोहित, अपनी माता के भोजन मे से भोजन करता हुआ विचारता, कि मेरे लिए मेरी माता भूखी रहती है, ऐसी दशा में मुझे उसके भोजन मे से भोजन करना उचित नही है। मुझे, यदि अधिक नही, तो कम-से-कम अपने उदरपोषण के लिए तो भोजन उपार्जन कर ही लेना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके, रोहित ने तारा से कहा—माता, अब मै आपका लाया हुआ भोजन न करूँगा, मैं, अपने लिए स्वयं ही भोजन उपार्जन कर लिया करूँगा। आपके लाये हुए भोजन में से खाकर काम भी करूँ और फिर अत्याचार भी सहूँ, यह मुझे स्वीकार नहीं है। मैं, कल से अपने लिए भोजन ले आया करूँगा और फिर थोड़े दिन बाद, आपको भी इस कष्ट से छुड़ा लूँगा तथा पिताजी को भी ढूँढ़ लाऊँगा।

पुत्र की बात सुनकर, माता गद्गद् हो उठी। अपने पुत्र के ऐसे स्वतन्त्र-विचार सुनकर, कौन माता ऐसी होगी, जो प्रसन्न न हो? उन्होने, प्रसन्नता प्रकट करते हुए रोहित से कहा—बेटा, तुम्हारा यह विचार है तो उत्तम, लेकिन तुम अभी बालक हो। जब तुम बड़े होजाओ, तब चाहे ऐसा करना।

रोहित—नहीं माता, अब मै आपका लाया हुआ भोजन भी नही करूँगा, इस घर मे काम भी नही करूँगा और अत्याचार भी

नहीं सहूँगा। मैं, यदि छोटा हूँ, तो मेरा पेट भी छोटा है। मैं, अपने इस छोटे-से पेट को भरने उतना भोजन तो, अपने इन छोटे-छोटे हाथों से उपार्जन कर ही लूँगा। जब मैं, आपके भोजन मे से भोजन करता हूँ, तो फिर अत्याचार क्यों सहूँ और काम क्यों करूँ ? इस घर मे विकी आप हैं, इसलिए आप उनके अधीन रहिए, मैं इनके अधीन नहीं रह सकता। मै तो स्वतन्त्र रहूँगा।

रोहित की इस बात का, तारा कुछ भी उत्तर न दे सकीं। उन्होंने कहा—अच्छा, तुम जो लाओ, वह लाया करो, उसे हम तुम दोनों मिलकर खाया करेंगे।

एक तो वह बालक रोहित है, जिसके हृदय मे स्वतन्त्रता की उपासना के भाव पैदा हो रहे हैं, जो अपनी माताके भोजनमें से भोजन करके फिर परतन्त्र नहीं रहना चाहता और एक आज के वे वृद्ध हैं; जो भारत की ही वस्तु खा-पहनकर भी परतन्त्र रहना चाहते हैं। भारत मे ही उत्पन्न हुई रुई का कपड़ा पहने, भारत का ही उत्पन्न अनाज खावे, फिर भी विदेशियो के अधीन रहने मे अपना गौरव मानते है। यूरोप, न तो अपने यहाँ का उत्पन्न अन्न ही भारत को देता है, न वस्त्र ही। फिर भी अधिकांश भारतीय उसके गुलाम बनकर रहने मे, अपना सौभाग्य मानते हैं। इस अन्तर का कारण, गुलामी के संस्कार हैं। देश के, अधिक समय तक गुलामी के बन्धन मे जकड़ा रहने के कारण, यहाँ के अधिकांश निवासियो के संस्कार ही ऐसे हो गये हैं, कि वे गुलामी मे ही सुख अनुभव करते है, स्वतन्त्रता में उन्हे सुख का लेश भी नही दिखाई देता। अस्तु।

दूसरे दिन सवेरे ही रोहित वन को चल दिया। प्राचीन

शिक्षणप्रथा-अनुसार रोहित को वृक्षों पर चढ़ना-उतरना भी सिखाया गया था, अतः वह वृक्षों पर चढ़ने-उतरने मे प्रवीण था। उसने, वृक्ष पर चढ़कर अच्छे-अच्छे फलादि तोडे। उनमे से कुछ तो उसने स्वय खाये और कुछ माता के लिए रख लिये।

प्राचीन समय के राजा लोग, वन पर अपना अधिकार न रखकर, उसे प्रजा के लिए छोड़ दिया करते थे। प्रजा मे से बहुत से मनुष्य, वन के द्वारा ही अपनी जीविका चलाते थे। कोई, उसमे से घास या लकडी काटकर अपना निर्वाह करता, कोई गौ आदि पशु उसमे चराकर अपनी जीविका चलाता, और कोई उसमे उत्पन्न फलफूलादि खाकर अथवा बेचकर अपने दिन व्यतीत करता। वन पर, किसी व्यक्ति-विशेष का नियन्त्रण न था, किन्तु उसपर सबको समानाधिकार प्राप्त था। बहुत से तपस्वीलोग भी, उन्ही वनो मे तपस्या किया करते थे। वन के होने से वर्षा बहुत होती थी, अन्न तथा घृत-दूध अधिक उत्पन्न होता था और मनुष्य को शुद्धवायु भी खूब मिलती थी। लेकिन जब से वन पर राज्य का नियन्त्रण होगया है, वे कटवा डाले गये हैं, तब से प्रजा, देश और पशुओ के कष्ट भी बढ गये है। आज, पशुओ की जो क्षति और दुर्बलता दिखाई देती है, अनाज की उत्पत्ति मे जो कमी सुनी जाती है, इसके कारणो मे से एक कारण, वन का कटना या उस पर राज्य का नियन्त्रण होना भी है।

फल खाकर और कुछ फल माता के लिए लेकर, रोहित घर आया। उसे, माता की चिन्ता का ध्यान हो ही रहा था, कि माता मेरे लिए चिन्ता करती होगी। इधर, तारा, रोहित की चिता

कर रही थीं, कि आज वह न मालूम कहाँ चला गया। रोहित को देखते ही, तारा की यह चिन्ता मिट गई। उन्होंने रोहित से पूछा—बेटा, तुम आज कहाँ चले गये थे ?

रोहित—माँ, मैं आज वन को गया था। वहाँ, प्रकृति की रचना देखकर मैं प्रसन्न हो उठा। जिस तरह आप मेरी माता हैं, उसी तरह वह प्रकृति सारे संसार की माता है। जिस तरह आप स्वयं कष्ट उठाकर मुझे भोजन देती हैं, उसी प्रकार वह भी संसार को भोजन देती है। इन फलों को देखो। ये फल, आज मैं उसी प्रकृति-माता से लाया हूँ। इन फलों से मेरा भी पेट भर जायगा और आपकी भी क्षुधा मिट जायगी। अब, मैं आपके लाये हुए भोजन में से भोजन न करूँगा, किन्तु आपका लाया हुआ भोजन आप किया कीजिए और मेरा लाया हुआ भोजन मैं किया करूँगा। मैं आपके भोजन में से भोजन करूँ और फिर दूसरे के अधीन रहकर बात सुनूँ यह अब मुझसे न होगा। अब, मैं अपना स्वतन्त्र-जीवन व्यतीत करूँगा और बड़ा हो जाने पर आपको भी इस दुःख से छुड़ा लूँगा।

पुत्र की बातें सुनकर, तारा को जो प्रसन्नता हुई, उसका वर्णन नहीं हो सकता। वह तो केवल अनुमान से ही जानी जा-सकती है। उन्होंने समझ लिया, कि रोहित क्षत्रिय-पुत्र है, वीर-बालक है, यह अकारण ही पराधीन रहने वाला नहीं हो सकता।

तारा ने रोहित से कहा—वत्स, केवल फलों के आधार पर शरीर सशक्त नहीं रह सकता। यदि तुम केवल फलों के ही आधार पर रहोगे, तो तुम में शक्ति कहाँ से आवेगी ? और बिना शक्ति के, तुम कैसे तो मुझे इस परतन्त्रता से छुड़ा सकोगे

और कैसे अपने पिता को ढूँढकर ला सकोगे ? इसलिए, तुम इस मेरे लाये हुए भोजन में से भोजन किया करो।

रोहित—यदि आप मेरे लाये हुए फलो को खाना स्वीकार करे, तो मै आपके भोजन मे से भोजन कर सकता हूँ, अन्यथा नहीं।

तारा ने, रोहित की बात स्वीकार की। दोनो—माता तथा पुत्र—ने, ब्राह्मण के यहाँ से लाये हुए भोजन और फलो को खाया।

रोहित को न देखकर, ब्राह्मण पुत्र ने तारा से पूछा, कि आजकल तुम्हारा पुत्र कहाँ रहता है ? तारा ने उत्तर दिया, कि अब वह अपना स्वतन्त्र-जीवन व्यतीत करता है। तारा के इस उत्तर को सुनकर, ब्राह्मणपुत्र साश्चर्य विचारने लगा, कि मैं तो इन्हे कम भोजन देकर अपने वश करना चाहता था, लेकिन ये लोग तो और भी स्वतन्त्र हो गये। यह स्त्री, एक विचित्र-स्त्री है, अब इससे बचकर रहना ही उचित है, अन्यथा किसी दिन अनर्थ हो जायगा। इस प्रकार विचार कर, ब्राह्मणपुत्र ने, तार से किसी प्रकार की अनुचित आशा छोड दी और कष्ट देन बन्द कर दिया।

रोहित, इसी प्रकार नित्य वन से फल ले आता। उसके लाये हुए फलो मे से, तारा कभी-कभी थोड़े फल ब्राह्मण-पुत्र को कर कहतीं, कि आप इन फलो को खाकर देखिए कि ये कैसे अच्छे है। कभी, इन हाथो से मैने बहुत-कुछ दान किया है, लेकिन अब तो मै स्वयं ही आपका दिया हुआ भोजन करती हूँ, दान कहाँ से करूँ। यह बालक, अपने उद्योग से फल लाता है,

इसलिए इन फलों में से मुझे दान करने का भी अधिकार है, अतः आप इन्हें खाइए ।

ब्राह्मणपुत्र, तारा के दिये हुए फलों को लेता, ऊपर से प्रसन्नता भी प्रकट करता, किन्तु भीतर से उसे, बालक की इस स्वातंत्र्यप्रियता पर डाह होता ।

तारा और रोहित, इसी प्रकार प्रसन्नता-पूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगे ।

६

निर्भीक—रोहित
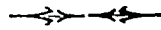
संसार मे, मनुष्यो का जीवन विशेषत आशा पर निर्भर है। यदि आशा एक क्षण के लिए भी मनुष्य का साथ छोड़ दे, तो सम्भवत मनुष्यो की जीवन-नौका पार लगना कठिन हो जाय। अँधेरे के पश्चात् प्रकाश, विपत्ति के पश्चात् सम्पत्ति और दु:ख के पश्चात् सुख की, प्रत्येक मनुष्य आशा करता है। यदि यह आशा न हो, यदि उन्हे प्रकाश, सम्पत्ति और सुख की ओर से एक दम निराश हो जाना पड़े, तो उनका जीवन भार—रूप हो जाय। संसार मे, बहुत कम मनुष्य ऐसे निकलेगे, जो आशावादी न हो। जो आशावादी नही हैं, निराशावाद ही जिनके जीवन का मूल-मन्त्र वन गया है, ऐसे मनुष्यो को प्रत्येक-कार्य मे, निराशा ही निराशा दिखाई देती है, इस कारण, वे निरुद्योगी, भीरु और आलसी वन जाते है। उनका जीवन दु:खमय हो जाता है और वे, किसी भी सद्कार्य के प्रारम्भ का साहस नही कर सकते। लेकिन जो आशावादी है, वे अनेक विपत्ति पड़ने पर, घोर दु.खो का सामना होने पर भी, निराश नही होते। कदाचित, वे किसी कार्य मे असफल भी रहे, तब भी निराशा को पास नही आने

देते और आशा के सहारे उद्योग करते ही रहते है। तारा आज परतन्त्र हैं, दासी हैं, पाँचसौ स्वर्ण-मुद्राएँ देकर उन्हे कोई छुड़ावेगा, इस बात पर विश्वास करने के लिए उनके पास यद्यपि कोई खास कारण नहीं है, फिर भी उन्हे अपने पुत्र से इस बात की आशा है, कि वह बड़ा होकर, अपने उद्योग से मुझे तथा पति को दासत्व से छुड़ावेगा। इसी आशा पर, वे अपने पुत्र का मुख देखती हुई अपने दिन व्यतीत करती है। इस आशा के सहारे ही, वे दासीपने मे भी प्रसन्न हैं।

तारा. यद्यपि इसी आशा से अपने दिन व्यतीत कर रही है, लेकिन, अभी उनके सत्य की खास कसौटी तो शेष ही है। अभी, उनको कठिन से कठिन सङ्कट के समय, अपने सत्य की परीक्षा देनी है। इसी कारण, उनकी यह आशा भी अधिक दिन न टिक सकी। विपत्ति, अपने नियमानुसार आशा पर ही आघात करती और उसी का नाश करती है। यदि वह आशा का नाश न करे, तो फिर कोई भी मनुष्य अपने आपको विपत्ति मे न समझे और विपत्ति से न घबराय।

नियमानुसार, रोहित नित्य वन मे जाता और वहाँ से फल लाकर आप भी खाता तथा माता को भी देता। तारा, अपने पुत्र के लाये हुए फलो मे से आप भी खाती, तथा दूसरो को देकर अपनी उदारता तथा दान-शीलता का परिचय भी देती। दासीत्व के बन्धन में जकडी हुई होने पर भी, तारा इस प्रकार सुख से अपना जीवन व्यतीत कर रही थी. लेकिन वह दुष्ट देव—जिसने हरिश्चन्द्र को सत्य-भ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा की थी—तारा के इस सुख को भी न देख सका। उसने, तारा से उसका पुत्र-रत्न छीनने

और इस प्रकार का कष्ट देकर, दम्पत्ति को सत्य-भ्रष्ट करने की चेष्टा करने का पुन. विचार किया।

नित्य की तरह, रोहित एक दिन वन मे गया। उसने, वन का प्रत्येक-वृक्ष देख डाला, लेकिन उस दुष्ट-देव की माया से, उसे एक भी फल न मिला। वह, फलो की आशा से वन मे बहुत घूमा, किन्तु सब निष्फल। रोहित मन ही मन कहने लगा—क्या आज वन-देव मुझसे रुष्ट हो गये है? क्या प्रकृति-देवी ने अपनी वत्सलता आज छोड़ दी है? हो न हो, यही कारण है, जो आज मुझे फल नही मिल रहे हैं। जो वनदेव, मुझे नित्य अधिकाधिक फल देते थे, जिस प्रकृति-देवी ने अपनी गोद में आये हुए बालक को कभी भूखा न रखा था, वे आज अवश्य ही मुझसे क्रुद्ध हैं। अन्यथा, जो वृक्ष फल से सदा लदे रहते थे, वे आज फल-विहीन क्यो हो जाते?

रोहित को, वन मे फल ढूँढ़ते अधिक समय व्यतीत हो चुका था। फलाहारी को, समय पर भूख लगती ही है, इस नियम के अनुसार रोहित को भी भूख लग चुकी थी और अधिकाधिक बढ़ती ही जाती थी। उसने वृक्षो के कुछ पत्ते खाये, परन्तु पत्तो से भूख न मिटी। भूख की अधिकता से, रोहित विकल हो गया। इधर, माता की चिन्ता उसे और थी, कि वे मेरे लिए भूखी होगी और मेरी प्रतीक्षा करती होगी। मै नित्य तो फल लेकर जाता था और मैं स्वयं खाता तथा माता को भी खिलाता था, परन्तु आज फल नही मिले हैं, इसलिए यदि मै बिना फल लिये जाऊँगा, तो मुझे माता के भोजन मे से ही भोजन करना पड़ेगा और उन्हे भूखी रहना पड़ेगा। मैं, माता के भोजन मे से

भोजन करूँ और माता को मेरे लिए भूखी रहना पडे, यह मेरे लिए सर्वथा अनुचित है।

इस विचार से, रोहित घर न गया और वन मे ही फल, ढूँढ़ता रहा। रोहित, भूख से नितान्त विकल हो चुका था। भूख के मारे, उसके नेत्रों के सन्मुख अंधेरा आने लगा था। अन्त में, विकल होकर वह एक वृक्ष के नीचे पड़ गया। भूख के मारे उसे नींद तो आई नहीं, अत वह परमात्मा का स्मरण करने लगा। वह कहने लगा—प्रभो, मै तो तुझे नही जानता, लेकिन मेरी माताजी तुझे जानती हैं। वे, मुझे उपदेश दिया करती है, कि दुःख में परमात्मा का स्मरण किया करो। वे स्वयं तेरा ही स्मरण करके अपने दु ख के दिन निकाल रही है, इसी तरह मैं भी तेरा ही स्मरण करके, अपनी भूख के दु ख का समय निकालता हूँ।

रोहित, इस प्रकार परमात्मा का स्मरण कर ही रहा था, कि उसके समीप ही किसी वस्तु के गिरने की आवाज सुनाई दी। रोहित का ध्यान भंग हुआ। उसने उठकर आस-पास देखा, तो उसे एक पका हुआ आम का फल दिखाई दिया। रोहित ने, फल को उठा लिया और प्रसन्न हो विचारने लगा, कि क्या यह फल मेरी माता के वतलाये हुए उस परमेश्वर ने ही दिया है, जिसका कि मैं स्मरण कर रहा था? अवश्य, उसने ही दिया होगा, अन्यथा यहाँ के तो सभी वृक्ष मै ढूंढ चुका था, फिर यह फल कहाँ से आया?

रोहित ने, परमात्मा को धन्यवाद देकर, उस आम्र-फल को चूसा। वह फल, उसे इतना स्वादिष्ट जान पड़ा, कि जैसा स्वादिष्ट

फल उसने पहले कभी न खाया था। एक तो उस समय वह भूखा भी था और भूख में वस्तु स्वादिष्ट लगती ही है, दूसरे फल भी कुछ अधिक स्वादिष्ट था। रोहित की भूख, उस फल के खाने से बहुत कुछ मिट गई और उसे शान्ति मिली।

रोहित ने, जब फल खा लिया, तब उसे विचार आया, कि ऐसा अच्छा फल बिना माता को दिये, मैं अकेला ही क्यो खा गया? यदि इस फल को मैं माता के पास ले जाता, तो कैसा अच्छा होता? लेकिन धिक्कार है भूख को, जिसने इस समय मुझे माता का, ध्यान न रहने दिया। अब, मैं इस फल के वृक्ष को ढूँढ़, उसमे से फल तोड़ कर माता के पास ले जाऊँगा।

इस प्रकार विचार करके, रोहित इधर-उधर उस फल के वृक्ष को देखने लगा। उसे, पास ही आम का एक वृक्ष दीख पड़ा, जो ऐसे ही फलो से लदा था। फल लगे हुए वृक्ष को देख कर वह बड़ा ही प्रसन्न हुआ और विचारने लगा, इन वृक्षो को मैं अच्छी तरह देख चुका था, लेकिन मुझे एक भी फल न दिखाई दिया था। अब, फलो से लदा हुआ पूरा वृक्ष मिला है, यह उसी परमात्मा की कृपा है। मानो उस परमात्मा ने मेरे लिए ही यह फल लदा हुआ वृक्ष भेजा हो।* अब, मैं इस वृक्ष मे से बहुत से फल लेजाकर अपनी माता को दूँगा, तो वे इन्हे खाकर तथा दूसरो को देकर बहुत प्रसन्न होगी।

---

*बालक का यह कथन, निमित्त को कर्त्ता मानने से सिद्ध हो सकता है। निमित्त रूप से सभी सम्प्रदाय वाले परमात्मा को दाता मानेंगे।

—सं०

कदापि न छोड़ूँगा। मेरी माता, मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी, वे मेरे लिए भूखी होगी, मैं इन फलों को उनके लिए ले जाऊँगा तो वे बडा आनन्द मानेगी। इसलिए तू वृक्ष को छोड़ दे, अकारण ही देर न कर।

रोहित की इन बातों को सुनकर भी, साँप न हटा, बल्कि उसने एक और फुफकार छोडी। रोहित कहने लगा—मै तुमसे कह चुका, कि मैं अपने अधिकार की वस्तु को किसी प्रकार भी न छोड़ूँगा, फिर भी तू मुझे डरा रहा है? यदि तू नहीं हटता है, तो मत हट, मै दूसरी तरह से वृक्ष पर चढ़कर फल तोड लूँगा।

रोहित के इस कार्य का नाम सत्याग्रह है। भय या आपत्ति से न डरकर, अपने अधिकारो पर स्थिर रहना, या अपने अधिकारो की प्राप्ति एवम् रक्षा का उपाय करना ही सत्याग्रह है। रोहित के इस सत्याग्रह से प्रकट है, कि उस समय बालक भी सत्याग्रह करना जानते थे, लेकिन आज के तो अधिकांश वृद्ध भी सत्याग्रह के नाम को सुनकर ही डरते सुने जाते हैं। इस अन्तर का कारण, शिक्षा का अन्तर ही है। पहले के बालको को वीरता की शिक्षा दी जाती थी, लेकिन आज कल के बालको को कायरता की शिक्षा दी जाती है। जहाँ, पहले के बालकों को यह सिखाया जाता था, कि वे किसी से भय न करे, वहाँ आज के बालको को, भूत-प्रेत के झूठे भय से डराया जाता है। इस तरह, आज के बालको मे कायरता की भावना भरी जाती है, अब वे सत्याग्रह करे तो कैसे? क्योकि सत्याग्रह वीर ही कर सकता है, कायर नही।

मुझे धैर्य रखने की शिक्षा दिया करती थी, लेकिन इस समय तुम्हारे धैर्य की परीक्षा है। तुम, मेरे मृत्यु समाचार को सुनकर, धैर्य रखना और "मेरा पुत्र वीरगति को प्राप्त हुआ है," यह विचार कर सन्तोष लाना। पिता! तुम्हे बिछुड़े विशेष-समय हुआ है। एक बार आकर देखो तो, कि तुम्हारा प्यारा रोहित, आज किस प्रकार मृत्यु का आलिगन कर रहा है। आप, मुझे अपने प्राणो से अधिक प्रिय समझत थे, परन्तु मैं आज आप लोगो को सदा के लिये विषाद-सागर मे छोड़कर जा रहा हूँ। आपके न होने से, माता जब मेरे लिए विलाप करेगी, तब उनका विलाप कौन सुनेगा और कौन उन्हे धैर्य प्रदान करेगा? कुछ भी हो, अब मुझे इस समय इन बातो की चिन्ता न करके, उस परमात्मा का स्मरण करना चाहिए, जिसके स्मरण की माता ने शिक्षा दी है। प्रभो! मेरी माता के बताये हुए प्रभो! यह तुच्छ सेवक आपकी शरण है। आप, इसे अपनी शरण मे स्थान दीजिए। मै तो आपको जानता नही हूँ, मैंने कभी आपको देखा भी नहीं है, लेकिन माता की शिक्षा पर भी अविश्वास करने का कोई कारण नही है। मैं, अपनी माता के बताने से ही तुम्हारा स्मरण करता हूँ और तुम से प्रार्थना करता हूँ, कि इस अधम का थ पकड़िए।

ईश्वर-प्रार्थना के पश्चात्, वह फिर कहने लगा—माता!

आप लोगो को मेरा यह अन्तिम-प्रणाम सुनानेवाला कोई नही है, लेकिन मैं पुत्र के कर्त्तव्यानुसार आपको प्रणाम करता हूँ और इस ससार से सदा के लिए बिदा होता हूँ। यह कहते-कहते रोहित, विष के प्रभाव से बेहोश होगया।

विपत्ति-वज्र

सांसारिक-मनुष्य, और सब दु:खों के सहन करने मे धैर्यवान् हो सकते है, परन्तु सन्तति-वियोग का दु:ख उन्हे असह्य हो उठता है। कई सन्तानो के होने पर भी, किसी एक के वियोग का दु:ख सहन करने मे जब उनका धैर्य छूट जाता है, तब यदि एक ही सन्तान हो, तथा उसका वियोग हो जावे, तो धैर्य न रहना स्वाभाविक है।

रोहित, तारा का एकमात्र पुत्र था। उसी रोहित के सहारे, वे अपने दिन व्यतीत करती थीं। उसी का मुख देखकर वे प्रसन्न रहती और उसी से उन्हे सुन्दर भविष्य की आशा थी। वे, इस विपत्ति के समय भी, अपने इस पुत्र-रत्न को सुरक्षित रखतीं, उसके खाने-पीने की चिन्ता रखती और उसके लिए

स्वयं भूखी भी रहती। परन्तु दुष्ट-देव ने, तारा से उसका यह पुत्र-रत्न भी छीन लिया। पुत्रवियोग के दु:ख का, तारा के हृदय पर कैसा आघात हुआ होगा, यह अनुमान से ही जाना जा सकता है। अस्तु।

विपत्ति-वज्र

सांसारिक-मनुष्य, और सब दु खों के सहन करने में धैर्यवान् हो सकते है, परन्तु सन्तति-वियोग का दु:ख उन्हें असह्य हो उठता है। कई सन्तानो के होने पर भी, किसी एक के वियोग का दुःख सहन करने मे जब उनका धैर्य छूट जाता है, तब यदि एक ही सन्तान हो, तथा उसका वियोग हो जावे, तो धैर्य न रहना स्वाभाविक है।

रोहित, तारा का एकमात्र पुत्र था। उसी रोहित के सहारे, वे अपने दिन व्यतीत करती थी। उसी का मुख देखकर वे प्रसन्न रहती और उसी से उन्हे सुन्दर भविष्य की आशा थी। वे, इस विपत्ति के समय भी, अपने इस पुत्र-रत्न को सुरक्षित रखती, उसके खाने-पीने की चिन्ता रखती और उसके लिए आप स्वयं भूखी भी रहती। परन्तु दुष्ट-देव ने, तारा से उसका यह पुत्र-रत्न भी छीन लिया। पुत्रवियोग के दुःख का, तारा के हृदय पर कैसा आघात हुआ होगा, यह अनुमान से ही जाना जा सकता है। अस्तु।

विपत्ति-वज्र

सांसारिक-मनुष्य, और सब दु:खो के सहन करने मे धैर्यवान् हो सकते है, परन्तु सन्तति-वियोग का दु:ख उन्हे असह्य हो उठता है। कई सन्तानो के होने पर भी, किसी एक के वियोग का दु:ख सहन करने मे जब उनका धैर्य छूट जाता है, तब यदि एक ही सन्तान हो, तथा उसका वियोग हो जावे, तो धैर्य न रहना स्वाभाविक है।

रोहित, तारा का एकमात्र पुत्र था। उसी रोहित के सहारे, वे अपने दिन व्यतीत करती थी। उसी का मुख देखकर वे प्रसन्न रहती और उसी से उन्हे सुन्दर भविष्य की आशा थी। वे, इस विपत्ति के समय भी, अपने इस पुत्र-रत्न को सुरक्षित रखतीं, उसके खाने-पीने की चिन्ता रखती और उसके लिए आप स्वयं भूखी भी रहती। परन्तु दुष्ट-देव ने, तारा से उसका यह पुत्र-रत्न भी छीन लिया। पुत्रवियोग के दु:ख का, तारा के हृदय पर कैसा आघात हुआ होगा, यह अनुमान से ही जाना जा सकता है। अस्तु।

जिस समय, रोहित का समाचार लेकर, बालकगण ब्राह्मण के यहाँ आये, उस समय तारा रोहित की ही चिन्ता कर रहीं थीं। नित्य के समय से, बहुत-अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी, उसके न आने से, तारा नितान्त-विकल थी। वे, मन-ही-मन, अनेक प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प कर रही थी। इसी अवस्था में, बालकों ने पहुँचकर उनसे कहा, कि तुम्हारा पुत्र तुम्हें पुकारता हुआ, मूर्छित होकर गिर पड़ा है। तारा ने, घबरा कर पूछा—वह कहाँ है? मैं तो उसकी प्रतीक्षा कर रही हूँ।

बालक—यद्यपि है तो दुःखद-समाचार—उसके सुनने से तुम्हें बहुत दुःख होगा, इसलिये न सुनाना ही उचित है—परन्तु न सुनाने से तो और भी अधिक हानि है और आखिर कबतक न सुनावेंगे? इसलिये सुनाये ही देते हैं। तुम्हारा बालक एक वृक्ष पर चढ़ रहा था। उसे ऊपर चढ़ते समय, एक साँप ने काट खाया, इससे वह बेहोश पड़ा है। उसके सारे शरीर में विष छा गया है और हमारे यहाँ पहुंचने के पहले ही, उसने अपनी संसार-यात्रा समाप्त करदी होगी।

बालकों ने, तारा को यह समाचार क्या सुनाया, मानो उन पर वज्र-प्रहार किया हो। तारा, अपने पुत्र का यह समाचार सुनते ही, इतनी अधिक अधीर हो उठीं, कि तत्क्षण मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं। पुत्र के वियोग का दुःख, तारा के लिए अत्यधिक- असह्य था, इसलिये यह मूर्छा की अवस्था, उन्हे थोड़ी देर के लिए सुखदात्री सिद्ध हुई। वे, जितनी देर मूर्छित रहीं, उतनी देर पुत्र के दुःख से बची रही, लेकिन, उन्हे तो पुत्रवियोग सहकर, अपने सत्य की परीक्षा देनी है. अतः यह मूर्छावस्था,

भी उनके समीप अधिक देर तक न ठहरी ।

जिस समय, तारा मूर्छित पड़ी थी और बालकगण उनके आसपास खड़े थे, उसी समय ब्राह्मण भी वहाँ आगया । तारा को पड़ी और बालको को खड़े देखकर, ब्राह्मण ने बालको से पूछा, कि क्या बात है ? बालकों ने, रोहित के सर्प से डसे जाने का वृत्तान्त सुनाकर कहा, कि इस समाचार के सुनते ही, ये मूर्छित होकर गिर पड़ी हैं । ब्राह्मण ने विचारा, कि इसका लड़का तो मर ही चुका है, परन्तु उसके दुःख से कही यह भी न मर जाय! नही तो मेरी पाँचसौ स्वर्ण-मुद्राएँ यो ही जावेगी । इस प्रकार विचारकर, ब्राह्मण ने, तारा की मूर्छा हटाने के लिये उनके मुख पर जल छींटा । शीतल-जल के लगने से, तारा की मूर्छा दूर हुई और वे रोहित-रोहित करके विलाप करने लगीं । ब्राह्मण ने, तारा को ताड़ना-पूर्वक कहा, कि जब मै कहता था, कि अपने बालक को कही न जाने दे, तब तो तूने मेरी बात पर ध्यान नही दिया और अब उसके लिए विलाप करती है ! क्या उसके साथ तू भी रो-रोकर अपने प्राण देगी और इस प्रकार मेरी मुद्राएँ डुबावेगी? अब, रोने से क्या लाभ है ? जा और उसका जो कुछ करना हो, सो करके वापिस जल्दी आ ।

ब्राह्मण के; इन पशुतापूर्ण शब्दो से, दुःखित-तारा के हृदय मे कैसी चोट पहुँची होगी, इस बात को प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है । लेकिन तारा विवश थी, अतः वे इन्हे सुन-लेने के व और क्या कर सकती थी ? इन कठोर-शब्दो के लिए भी, अपने मन मे उसे धन्यवाद दिया, कि इन्होंने कम-से-कम बिना माँगे ही, पुत्र के अंतिम-संस्कार के लिए मुझे समय तो दिया !

संसार का नियम है, कि दुःख सहानुभूति से भी कम होता है और ताडना से भी। कहीं-कहीं सहानुभूति और ताड़ना दोनो से ही दुःख बढ़ जाता है, किन्तु अधिकतर कम ही होता है। ब्राह्मण की ताड़ना से, तारा अपने पुत्र के दुःख को, एक क्षण के लिये भूल-सी गईं। उन्होंने, धैर्य धारण करके ब्राह्मण से कहा—पिताजी, जो होना था सो तो हुआ, परन्तु अब मै अबला अकेली वहाँ जाकर क्या कर सकूँगी? दया करके, या तो आप चलिये, या और किसी को मेरे साथ भेज दीजिये, जिसमे उसे देखकर यदि हो सके, तो उसका कोई उपचार किया जावे।

तारा के, इस समय के शब्दो का, एक सहृदय-मनुष्य पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ सकता है, परन्तु उस ब्राह्मण में सहृदयता नाम मात्र को भी न थी। उसने, तारा की इस विचलित कर देने-वाली प्रार्थना के उत्तर मे कहा—वह तो मर ही गया है, अब उस मरे हुए का क्या करना? वन के मरे हुए को ग्राम या घर में तो लाना ही नहीं है, फिर हम तेरे साथ-साथ कहाँ घूमते फिरें? जा जल्दी जा। देर मत कर और उसे जला कर फिर जल्दी आ जाना। देर मत करना।

जिन तारा की सेवा मे, सदा सैकड़ो हजारो सेवक और सेविकाएँ उपस्थित रहती थी, जिनके मुख से आज्ञा निकलते ही काम होता था, जो स्वयं दूसरे को दुःख के समय सहायता दिया करती थीं, उन्हीं तारा को आज, उपरोक्त उत्तर सुनना पड़ रहा है और वह भी ऐसे समय में, जब कि उनका प्रिय पुत्र मरा हुआ पड़ा है। लेकिन तारा, इस उत्तर से उतनी दुःखित न हुईं, जितना दुःख उन्हे पुत्र का है। उन्होंने, ब्राह्मण का उत्तर सुनकर और

उसकी ओर से निराश होकर, बालको से कहा—भाइयो, वह कहाँ पड़ा है, चलकर दिखा तो दो ! बालको ने. तारा की बात मान ली । विलाप करती हुई तारा, उन बालकों के साथ हो लीं और जहाँ रोहित पड़ा था, वहाँ चली ।

बालको ने, वहाँ पहुँचकर विष के प्रभाव से मृत रोहित का शव, तारा को दिखा दिया । तारा ने दौड़कर, रोहित के शव को उठा लिया और विलाप करने लगी ।

रोहित के शव को गोद से लेकर, विलाप करती हुई तारा कहने लगी—रोहित ! बेटा रोहित ! तुम किस नीद मे सोये हो ? तुम्हारी अभागिनी-माता, तुम्हारे समीप बैठी रो रही है, फिर तुम चुपचाप क्यो पड़े हो ? सदा तो तुम अपनी माता के दु:ख को दूर कर दिया करते थे. अनेक प्रकार की बाते करके आश्वासन दिया करते थे फिर आज निठुर क्यो बन गये हो ? वत्स रोहित ! क्या यह समय सोने का है ? क्या यह समय अपनी माता को छोड़ने का है ? क्या यही अवस्था तुम्हारे परलोक गमन की है ? फिर क्यो पड़े हो ? तुम्हारे नेत्र और तुम्हारी आकृति तो वैसी ही है, जैसी सदा मेरी गोद में सोने पर रहा करती थीं; फिर आज बोलते क्यो नही हो ? क्यो प्रभात के चन्द्रमा के नाई मलिन हो ? क्या मुझ से रूठ गये हो ? मेरे जीवन धन ! यदि तुम रूठ जाओगे, तो इस संसार मे इस समय मेरा कौन है, जो मुझे आश्वासन देगा ? तुम, सदा तो कहा करते , कि मैं बड़ा होकर तुम्हे दासीत्व से मुक्त करूँगा, और पिता को भी ढूँढलाऊँगा, परन्तु आज तो बोलते भी नही हो ! अबतक तो तुमसे यह आशा थी, कि तुम बड़े होकर अपने माता-पिता

को दु:ख-मुक्त करोगे, परन्तु अब तुम्हारे बिना यह आशा कौन पूरी करेगा ? अब कौन मुझे माता-माता कहकर पुकारेगा ? अब, कौन मेरी आँखो के आँसू पोछकर, अपनी तोतली बातो से मुझे हँसावेगा ? अब मैं किसका मुख देखकर अपनी आँखे ठंडी करूँगी और अपने दु ख को भूलूँगी ? तुम भूखे रहने पर भी, कभी मुझसे न कहते और बिना मुझे साथ लिए न खाते, परन्तु अब तो कोई मेरी बात पूछने वाला भी न रहा। पुत्र रोहित ! मैंने तुम्हारे पिता के पुत्र-रत्न को खो दिया। अब, जब वे तुम्हारे विषय मे मुझसे पूछेंगे; कि रोहित कहाँ है, तब मै उन्हे क्या उत्तर दूँगी ? मैं, किस हृदय से कहूँगी, कि आप का जीवन-धन और सूर्यवंश का एकमात्र-रत्न अब संसार मे नही है ? वत्स रोहित ! क्या मैंने इसी दिन के लिए तुम्हे पाला-पोसा था ? क्या दुष्ट साँप के लिये तुम्ही डसने योग्य थे ? उस दुष्ट ने तुम्हारे बदले मुझे क्यो न डस लिया, या अब क्यो नही डस लेता है ? मुझे, उसने किस सुख के लिय छोड रखा है ? मेरे प्राण ! तुम इस शरीर मे किस सुख की आशा से ठहरे हुए हो ? जहाँ रोहित गया है, वहाँ क्यो नही चलते ? क्या अभी कोई और दु ख देखना शेष है, जिसके लिए तुम ठहरे हुए हो ? इस दु ख, पुत्रशोक के भयङ्कर दु ख से बढ़कर, और कौन सा दु ख है, जिसे अभी और सहना है ? इस दु ख से बढकर तो संसार में और कोई दु ख नही है, फिर तुम इस शरीर को क्यो नही छोड़ते ? पुत्रशोक के भीषण-दु ख से छुटकारा क्यो नही लेते ? चलो, तुम भी वही चलो, जहाँ रोहित गया है। मै, अबतक सत्य के लिए सब दु खो को सहती रही, लेकिन यह कष्ट मेरे लिए असह्य है। मेरा रोहित जहाँ गया है,

वही मैं भी जाऊँगी और अवश्य जाऊँगी। अब, इस संसार में मैं किस आशा से रहूँ ? पुत्र की आशा से ही, अबतक हम सब कष्ट सहते रहे; लेकिन आज तो यह आशा भी न रही। जिस पुत्र की आशा के सहारे अबतक मैंने अपने दिन व्यतीत किए, वह पुत्र भी आज स्वप्न के रत्न की नाईं छिप गया। मेरे लिए तो आज सारा संसार शून्य है। अब, मुझे इस संसार मे रहने की भी क्या आवश्यकता है।

तारा के इस करुण-क्रन्दन को सुनकर, उनके समीप बहुत-से लोग एकत्रित हो गये। तारा के हृदय विदारक-विलाप को सुनकर, उन लोगो के भी आँसू बहने लगे। सब लोग, तारा से सहानुभूति प्रकट करने लगे। तारा का विलाप सुनकर, वन के पशुपक्षियो ने भी खाना-पीना छोड़ दिया और तारा का अनुकरण करने लगे। यह सब कुछ हुआ, किन्तु रोहित के मृत-शरीर में जीवन का सञ्चार न हुआ। तारा, उसी प्रकार विलाप कर रही थी, इतने मे ही, एक सज्जन आगये।

सज्जनो की वाणी मे, न मालूम कौनसी शक्ति होती है। वे, संसार के कठिन से कठिन दुःख को भी, बात की बात मे कम कर देते हैं। उनकी वाणी, दुःखरूपी रोग के लिए रामबाण—औषधि के समान होती है। दुःख मे सुख, निराशा मे आशा, और विपत्ति मे सम्पत्ति का सञ्चार कर देना ही, सज्जनों की विशेषता है।

वे सज्जन, तारा के समीप आकर कहने लगे—देवी तारा! पुत्रशोक से विह्वल होकर, यदि कोई दूसरी स्त्री रोती, तब तो आश्चर्य की बात न थी, परन्तु तुम्हारे समान सत्यधारिणी, पुत्र

के शोक से विकल हो, यह आश्चर्य की बात है। यदि तुम भी कष्ट सहन में अधीर हो उठोगी, तो फिर दूसरा कोई कैसे धैर्य रख सकता है? यह शरीर, जिसको लिये हुए तुम विलाप कर रही हो, अनित्य तथा क्षणभंगुर है और आत्मा अमर है। फिर तुम शोक किसके लिये कर रही हो? इस नाशवान शरीर से जितना सुकृत्य हो जाय, वही अच्छा है। इस बालक ने भी, अपने जीवन का अन्त वीरो की तरह किया है और तुमने भी सत्य को इस प्रकार पाला है, कि आज सारे ससार मे तुम्हारी कीर्ति छारही है। अब, क्या पुत्रशोक से व्यथित हो, अपने उस सत्य और धर्म को छोड़ना चाहती हो, जिसकी रक्षा तुमने इतने कष्ट सहकर की है? जिस सत्य के लिए तुमने राज-पाट छोड़ दिया, जिस सत्य के लिए तुमने मजदूरी की, जिस सत्य के लिए बिककर तुमने दासीपना किया, क्या उस सत्य को अब पुत्रशोक से कातर हो छोड़ दोगी? तुम बिकी हुई हो, तुमको उस ब्राह्मण ने पॉचसौ स्वर्ण-मुद्राएँ देकर मोल लिया है। यदि तुम, पुत्रशोक से कातर हो अपने प्राण त्याग दोगी, तो उस ब्राह्मण की स्वर्ण-मुद्राएँ यो ही जावेगी, या नहीं? ऐसी अवस्था मे, तुम्हारा मरना विश्वासघात कहलावेगा और तुम अपने प्रिय धर्म से पतित हो जाओगी। अबतक तुमने धर्म की रक्षा की है, अब उसे छोडना उचित नही है। भद्रे! तुम मरने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं हो। अत. अपने इस विचार का परित्याग करो और कातरता को छोड़, धर्म पर ध्यान दो। तुम्हे, तुम्हारे स्वामी ने कुछ ही समय का अवकाश दिया है। उस समय को, यदि पुत्रशोक के विलाप मे ही व्यतीत करदोगी; तो फिर तुम स्वामी-आज्ञा-उल्लंघन

की पातिकिन हो जाओगी। इसलिए धैर्य धारण करके पुत्र की अन्त्येष्टि-क्रिया करने का विचार करो। वीर क्षत्राणी, अपने वीर पुत्र के लिए, कभी कातर नही होती। उसमे भी, तुम सूर्यवंश की कुलवधू हो, दानवीर महाराज-हरिश्चन्द्र की धर्मपत्नी और रोहित ऐसे वीर तथा स्वतन्त्रता-प्रिय बालक की माता हो। तुम्हे इस प्रकार शोक करना शोभा नही देता। इसके सिवा, शोक करने से दु:ख मिट भी तो नही सकता। युग-युगान्तर तक शोक करने से भी कष्ट निवारण नही होता, फिर शोक करने से ही क्या लाभ? अत वीर-क्षत्राणी की तरह, धैर्य धारण करके अपने कर्त्तव्य का विचार करो।

सज्जन के इस उपदेश ने, तारा के हृदय मे विद्युत का सा प्रभाव किया। वे, साश्चर्य विचार करने लगी, कि ये सज्जन मुझे कैसे पहिचानते हैं? इन्होने, जितनी भी बाते कही हैं, उनसे प्रकट है, कि ये मुझे अवश्य ही पहचानते हैं। इनका उपदेश भी उचित ही है। वास्तव मे, मै दूसरे के यहाँ दासी हूँ। बिना क्रयी की आज्ञा के मै थोड़ा भी समय व्यय नही कर सकती, फिर मरने के लिए कैसे स्वतन्त्र हो सकती हूँ? जिस सत्य की अबतक रक्षा की है, वह सत्य मेरे आत्मघात करने पर कदापि नही बच सकता। अब, मेरा कर्त्तव्य यही है, कि मै रोहित की अपेक्षा सत्य को अधिक समझ, रोहित की चिन्ता न करूँ, बल्कि सत्य की चिन्ता करूँ और वही कार्य करूँ, जिनके करने से सत्य न जाय।

सज्जन के समझाने से, तारा अपने हृदय मे धैर्य लाई। उन्होने, अपने हृदय के दु:ख को दबाकर, रोहित की अन्त्येष्टि-

क्रिया करने का विचार किया। लेकिन इन्हे ध्यान हुआ, कि विना किसी की सहायता के, मैं अकेली-स्त्री क्या कर सकूँगी? श्मशान कहाँ हैं, अन्त्येष्टि-क्रिया कैसे की जाती है, आदि वातो से मैं अनभिज्ञ हूँ, अत यदि इन्हीं सज्जन से इस कार्य मे सहायता लूँ, तो मेरा कार्य अच्छी तरह चल सकता है।

तारा तो अपने मन मे, उन सज्जन से सहायता लेने का विचार कर रही हैं, लेकिन दुष्ट-देव ने यहाँ भी तारा का पीछा न छोड़ा। उसने ऐसी माया रची, कि तारा के समीप जितने भी लोग अवतक खडे थे, वे सव अपनी-अपनी ओर चलदिये। तारा उन सव को आवाज देती ही रही, लेकिन उनकी पुकार पर किसी ने भी ध्यान नही दिया। सभी अपनी-अपनी ओर चल दिये। तारा अकेली ही रह गई।

तारा के विलाप करने और उन सज्जन के समझाने मे ही, संध्या होगई थी। सूर्य, अपनी प्रकाशमयी किरणो को अस्ताचल की ओट मे छिपा चुका था। अमावस्या की रात्रि, अपना प्रभाव जमाने के लिये, भयङ्कर-अन्धकार फैलाती जा रही थी। गीदड-उल्लूकादि, अपना डरावना शब्द सुना रहे थे। आकाश मे वादल छारहे थे, जिन्होने टिमटिमाते हुए तारो को इस प्रकार छिपा लिया था, मानो वे रानी तारा के सत्य का प्रकाश भली-भाँति देखने के इच्छुक हो। ऐसी भयानक और अँधेरी रात में, वन के मध्य तारा, अपने मृत पुत्र को लिये हुए अकेली वैठी है। प्रार्थना करने पर भी, समीप के लोगो के चले जाने से, तारा के हृदय मे कितना दु ख हुआ होगा, यह वात अनुमान से ही जानी जा सकती है।

तारा की इस विपदावस्था की ओर, संसार के स्त्री-पुरुषों का ध्यान आकर्षित करते हुए, बुद्धिमान लोग कहते हैं—ऐ संसार के स्त्री-पुरुषो ! तुम्हे धन, जन, रूप, यौवन, कार्यक्षमता आदि का अभिमान हो, तो तुम तारा की ओर देखो। तारा, उस समय के धनवानो, रूपवानो, यौवनवानो, बुद्धिमानो और क्षमता-वानो मे एक ही थी। लेकिन उन तारा पर भी विपत्ति पड़ी है, तो तुम किन कारणो से इन नाशवान चीजो पर गर्व करते हो ? तारा, उसी जन्म मे कुछ दिन पहिले, एक विशाल-राज्य की रानी थी और रोहित राजकुमार था। लाखो मनुष्य, इनकी रक्षा के लिए सदा तैयार रहते थे। लेकिन, आज वही राजकुमार, वन के मध्य मरा हुआ पडा है और वेही रानी, उसके पास अकेली बैठी दु.ख कर रही है। इस समय उन्हे कोई आश्वासन देनेवाला तक नहीं है, न उनके पास अपने पुत्र का अग्नि-संस्कार करने के लिये एक पैसा ही है। वल्कि ऐसा कोई सहायक-मनुष्य भी नही है, जो रोहित के शव को श्मशान तक पहुँचा दे, या तारा को श्मशान का मार्ग ही वता दे। अत. यह ध्यान रखो, कि आज तुम जिस धन पर गर्व करते हो, जिसके उपार्जन मे न्याय और अन्याय का भी विचार नही करते, वह धन स्थायी नही, अस्थायी है। यह सदा वना रहेगा, यह वात कोई नही कह सकता। फिर इसके लिए अन्याय क्यो करते हो ? इससे वृथा मोह क्यो करते हो ? और . में इसे ही उत्कृष्ट-वस्तु क्यो समझते हो ? इसका ... तभी अच्छा है, जब इससे किसी प्रकार का सुकृत्य कर लिया जाय। अन्यथा, सिवा पश्चाताप के कुछ शेष

नहीं रहता। हरिश्चन्द्र का राज्य, यदि किसी दूसरे राजा की चढाई के कारण चला जाता, तो उन्हे सदा पश्चाताप रहता, कि मैंने अपने राज्य का कोई सदुपयोग नही किया। लेकिन उन्होंने राज्य को दान में दे दिया, इससे उन्हे अत्यधिक सन्तोष है। सारांश यह, कि अभिमान बुरा है, किसी वस्तु विशेष पर अभिमान न करके, यदि उससे कोई सुकृत्य कर लिया जावे, तो अच्छा है। अस्तु।

भयानक—अँधेरी रात मे तारा, वन के मध्य अपने पुत्र के शव की अन्त्येष्ठि-क्रिया की चिन्ता मे बैठी है। उन्हे, श्मशान का मार्ग भी मालूम नहीं है। क्रयी-यानी वह ब्राह्मण, जिसने तारा को मोल लिया था, इतना निठुर निकला, कि न तो तारा को इस दुःख के समय सहायता देने वह स्वयं ही आया, न किसी और को ही भेजा। सांसारिक-व्यवहार के अनुसार, श्मशानभूमि तक साथ देना उसका कर्त्तव्य था, परन्तु उसने इस कर्त्तव्य की भी उपेक्षा की। बल्कि, उसने तारा को, अपने पुत्र का अग्निसंस्कार करने के लिए, एक टका भी न दिया, जिसे देकर तारा अपने पुत्र का अग्निसंस्कार कर पातीं।

उस अँधेरी-रात मे, वन के मध्य, अपने पुत्र-शव को अकेला पड़ा देख और पास मे किसी के न होने से, तारा के हृदय मे क्या-क्या भावनाएँ उत्पन्न हुई होंगी, यह कौन कह सकता है? लेकिन तारा क्षत्राणी थीं। विपत्तियो को सहन करने में अभ्यस्त हो चुकी थीं। सज्जन के समझाने से भी, उन्हे धैर्य मिला था और अपने कर्त्तव्य का भान भी हो चुका था। इसलिए, उन्होंने साहसपूर्वक रोहित के शव को अपने कन्धे पर उठा लिया और

जिस ओर वे मृतको के शव को जाते देखती थीं, उसी ओर को चल दी।

शव को लिए हुए, लड़खड़ाती और ठोकरे खाती हुई तारा, काशी की संकुचित गलियो मे होती हुई श्मशान के पास पहुँचीं। पुत्र का अग्निसंस्कार, बिना लकडियो के कैसे करूँगी, इस चिन्ता से तारा का हृदय अधीर हो उठा। उनका साहस इस समय छूट गया और वे पुत्र के शव को भूमि पर रख, विलाप करने लगीं। तारा, अपने विलाप मे पुत्र के पूर्व सुख और इस समय के भीषण दुःख का तुलनात्मक वर्णन करती हुई कहती है—हाय बेटा! तुम एक विशाल-राज्य के भावी स्वामी माने जाते थे, परन्तु आज तुम्हारा कोई सहायक भी नही है! और तो और, आज तुम्हारे अग्निसंस्कार के लिए लकडिये भी नही! अपने पुत्र की यह दशा, इस अभागिनी—माता को, न मालूम किन पाप-कर्मों के फल-स्वरूप देखनी पड़ रही है।

तारा इसी प्रकार अनेक बाते कहती हुई विलाप कर रही हैं। उनके हृदय-विदारक-विलाप को सुनकर, गीदड़ो ने अपना स्वर भी बन्द कर दिया। इस आपत्तिकाल मे तारा के हृदय की क्या दशा हुई होगी, इस बात को प्रत्येक सहृदय मनुष्य अनुमान से ही जान सकता है; लेकिन, इस कष्ट मे भी तारा को अपने धर्म का विचार है। धर्म के विचार ने ही, वन मे भी उन्हे पुत्रशोक से छुड़ाया था।
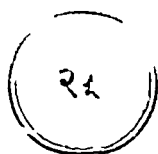
श्मशान में

अमावस्या की, घोर अन्धकारमय रात्रि का समय है। आकाश मे, चारों ओर से मेघ घिर रहे है। एक भी तारा नहीं दिखाई देता। निविड-अन्धकार से सारा श्मशान, साय-सॉय कर रहा है। निर्वाणप्राय चिताओ के प्रकाश से, अन्धकार की प्रत्यक्ष मूर्त्ति और भी स्पष्ट दिखाई देती है। श्मशान मे स्थान-स्थान पर, श्वेत-नर-कपाल और अस्थियाँ बिखरी हुई पडी है। चारो ओर सन्नाटा है। हाँ, गीदडो के वीभत्स-शब्द और वृक्षो की मुरमुराहट कभी-कभी अवश्य सुनाई देती है। इसी भयानक श्मशान में, एक पुरुप लॅंगोटा कसे, और हाथ मे लट्ठ लिये, इधर-उधर चक्कर लगा रहा है। उसका शरीर विशाल, भुजाएँ प्रलम्ब और वक्ष-स्थल दीर्घ है। श्मशान की चिताओ का धुआँ लगने से, उसका शरीर काला हो रहा है। सिर और दाढी के बाल बढे हुए और रूखे हैं। पाठकगण! यही पुरुप आपके पूर्व-परिचित महाराजा-हरिश्चन्द्र हैं, जो सत्य के लिए, भङ्गी के दास बनकर, उसकी आज्ञा से, श्मशान की रखवाली कर रहे है।

हरिश्चन्द्र, इधर से उधर घूमते हुए कह रहे हैं—"जाट!

इस स्वर्णमण्डित मनुष्य देह का, अन्तिम-परिणाम भी कैसा भीषण है ! यह, या तो जलकर राख होजाती है, या कुत्तो और गीदड़ों आदि का भोजन वनजाती है। एक समय, जो कान्ति अत्यन्त सुन्दर दीख पड़ती है, जिस पर मनुष्य अभिमान करता है, वही कान्ति कुछ दिन पश्चात्, चिता के धुएँ मे मिलकर नष्ट हो जाती है। मनुष्य, अपने जीवन की वड़ी-वड़ी आशाओं को लिए हुए, यहाँ आकर चुपचाप सो जाता है। दीन से दीन और सम्पन्न से सम्पन्न के लिए, एक यही मार्ग है। मैं, नित्य यही देखता हूँ। ऐसा होते हुए भी, संसार के लोग, इस शरीर की अनित्यता का विचार नही करते। सैकड़ो पिता-माता और भाई अपने प्रिय से प्रिय स्वजन को यहाँ लाकर फूँक जाते हैं। वे रोते भी हैं, उनके हृदय मे वैराग्य का सञ्चार भी होता है, लेकिन उतनी ही देर, जबतक कि चिता की आग बुझ नहीं जाती। उसके पश्चात्, वही आशाएँ, वही हास्य-विलास और वही सुन्दर-सुन्दर कल्पनाओ का दौर-दौरा होने लगता है। फिर, वह एकदिन भी यह विचारने की आवश्यकता नही समझता, कि जिस तरह मैं अपने पुत्र, मित्र या भाई को, श्मशान मे जलाकर भस्म कर आया हूँ, उसी तरह एक दिन मुझे भी, उसी श्मशान का आश्रय लेना पड़ेगा, एक दिन, इस शरीर का भी, अन्तिम-शयन चिता पर ही होगा और मै भी इसी तरह भस्म कर दिया जाऊँगा।"

"श्मशान भूमि मे आने पर, मनुष्य के हृदय मे जो भावएँ उत्पन्न होती हैं, उन भावनाओ को यदि वह अपने हृदय मे, के लिए रहने दे, तो इस नश्वर-शरीर से, वह न मालूम कौन-कौन से सुकृत्य कर डाले।"

"श्मशान! तुम मनुष्य को कितनी उत्तम शिक्षा देते हो! यदि मनुष्य, तुम्हारी दी हुई शिक्षा को, अपने हृदय मे सदा के लिए प्रविष्ट करले, तो वह जीवन-मुक्त होजाय, इसमे सन्देह नहीं। तुम, मूर्तिमान गाम्भीर्य हो। तुम, निरन्तर कितने ही दु:खियों के गर्म-गर्म आँसू और उनके चीत्कार-हाहाकार आदि को, सहज ही में छाती तानकर सह लेते हो। कितने ही राजा-महाराजा आकर तुम्हारे वक्षस्थल पर सदा के लिए अनन्त-निद्रा मे सो जाते हैं। एक चाण्डाल को भी तुम अपने हृदय में उसी प्रकार स्थान देते हो जैसे एक राजा को। राजा हो या प्रजा, ब्राह्मण हो या चाण्डाल और कोढ़ी हो या दिव्यशरीरधारी, तुम्हारे समीप सभी समान हैं। तुम, किसी से भेद-भाव नहीं रखते, सबको समान समझते हो। यदि, मनुष्य भी तुम्हारे समान समदृष्टि बनजाय, तो फिर उसे संसार मे जन्म-मरण करने की आवश्यकता ही न रहे। तुम जड हो, फिर भी तुममें यह ज्ञान है, परन्तु मनुष्य, चेतना-शक्ति सम्पन्न होने पर भी, यह ज्ञान नहीं रखता। इसी कारण, उसे पुन:-पुन. तुम्हारी शरण में आना पड़ता है, परन्तु फिर भी वह तुम्हारी शिक्षाओ का मनन नहीं करता, न तदनुसार आचरण ही करता है।"

हरिश्चन्द्र, इस प्रकार कहते-कहते इधर-उधर घूम रहे थे, कि सहसा उनके कान मे, किसी स्त्री के रुदन की आवाज पड़ी। वे विचारने लगे, कि इस अँधेरी-रात में यहाँ आकर रोनेवाली स्त्री कौन है? वे उसी ओर चल दिये, जहाँ अपने पुत्र के शव के पास बैठी हुई तारा रो रही थीं। हरिश्चन्द्र ने, तारा के समीप जाकर उनसे पूछा—भद्रे! तुम कौन हो, जो इस भय।

के समय श्मशान मे अकेली बैठी रो रही हो ? हरिश्चन्द्र का शब्द सुनते ही, तारा चौक उठी। अपने सामने एक विशालकाय, परन्तु भयावने-पुरुष को लँगोटा लगाये और हाथ मे लट्ठ लिये खड़ा देख, तारा कुछ सहमी । वे, भयभीत हो विचारने लगीं, कि रात्रि के समम यह कृतान्त के समान कौन पुरुष आ खड़ा हुआ ! तारा ने साहस-पूर्वक राजा से पूछा—तुम कौन हो, जो इस भयावनी-रात्रि मे एक अनाथ, अकेली और दुःखिनी-स्त्री के समीप आखड़े हुए हो ? क्या तुम यमदूत हो ? क्या तुम मेरे बालक को मेरी गोद से छीनने के लिये आये हो ? परन्तु तुम्हारी क्या शक्ति है, कि तुम मेरे रहते, मेरे बालक को ले जाओ। मैं, अपनी गोद कदापि सूनी न होने दूँगी, प्रत्येक सम्भव-उपाय से अपने प्यारे बालक का रक्षा करूँगी !

तारा की बातों को सुनकर, हरिश्चन्द्र आश्चर्य-चकित हो विचारने लगे, कि यह कौन स्त्री है, जो अभी तो रो रही थी और अभी ऐसी साहसिन बन गई ? उन्होने तारा से कहा—देवी ! जैसी तुम विपदग्रस्त हो, वैसा ही मै भी विपदग्रस्त हूँ । मै, यम-दूत नही हूँ, वल्कि मनुष्य ही हूँ और इस श्मशान की रक्षा करता हूँ । क्या तुम्हारा पुत्र मर गया है और तुम उसी के लिए शोक कर रही हो ? लेकिन इसके लिए तुम्हारा शोक वृथा है। ससार में जो आता है, उसे इस मार्ग से निश्चय ही जाना पड़ता है । यह तो अटल नियम ही है । यहाँ रहते हुए, मै ऐसी घटनाएँ नित्य देखा करता हूँ । उन घटनाओ को देखते-देखते, मेरा हृदय वज्र हो गया है और वह ऐसा दुःख देखकर द्रवित नही होता । इस श्मशान मे, हजारों मनुष्य मेरे देखते-देखते जल चुके हैं ।

इनमें बालक, युवा और वृद्ध, सभी अवस्था के शामिल हैं। तुम्हारा पुत्र भी उसी प्रकार का एक है, अतः लाओ इसे भी जला दें। बादल उमड़ रहे हैं, यदि वर्षा हो जायगी तो फिर लकड़ियाँ भली प्रकार न जलेंगी और तुम्हारा पुत्र अधजला रह जायगा।

राजा की बातचीत सुनकर, तारा विचारने लगीं, कि यह कौन पुरुष है? इसका स्वर तो परिचित-सा जान पड़ता है! तारा, इस प्रकार विचार ही रही थीं कि आकाश में बिजली चमकी। बिजली के प्रकाश में, राजा के मुख को देखकर, रानी ने अनुमान किया, कि यद्यपि यह पुरुष है तो दीन-वेश में, लेकिन इसकी आकृति सज्जनता को परिचायक है। निश्चित ही, यह कोई बहुत सज्जन पुरुष है। तारा, यह विचार कर उनसे कहने लगीं—महाशय, आप बातचीत से तो बहुत सज्जन मालूम होते हैं, कहीं आप कोई देव तो नहीं हैं और इस रात्रि के समय मेरी परीक्षा लेने या मेरी सहायता करने तो यहाँ नहीं आये हैं? यदि ऐसा हो, तो कृपा कर मेरे पुत्र को जिला दीजिए। मैं, आयु-भर आपका आभार मानूँगी और आपको अनेकानेक धन्यवाद दूँगी।

हरिश्चन्द्र—मैं, पहले ही कह चुका हूँ, कि मैं मनुष्य हूँ और इस श्मशान-भूमि की रक्षा करता हूँ। तुम्हारा यह अनुमान, कि मैं कोई देव हूँ, नितान्त निर्मूल है।

तारा—यदि आप देव नहीं हैं और मनुष्य हैं, तो कृपा करके मेरे पुत्र का सर्प-विष उतार दीजिए। मैंने सुना है, कि साँप के काटे हुए मनुष्य का प्राण शीघ्र नहीं निकलता और

भी सुना है, कि लोग साँप के विष को मन्त्र द्वारा उतार देते हैं। यदि आप साँप उतारना जानते हो और इस दुःखिनी के एकमात्र पुत्र को जीवित करदे, तो बड़ी कृपा होगी।

राजा—मैं, विप उतारना भी नही जानता और न अब मृत-पुत्र जीवित ही हो सकता है। इस प्रकार की अनावश्यक-बातचीत मे समय जारहा है, फिर कही वर्षा होगई, तो तुम्हारे पुत्र का जलना कठिन हो जावेगा। इसलिए लाओ, इसे जला दें। विशेप बातचीत से लाभ नही, किन्तु हानि ही है।

तारा के स्वर को सुनकर राजा और राजा के स्वर को सुनकर तारा हृदय मे यह तो विचार करते हैं, कि यह स्वर परिचित है, परन्तु संसार मे एक ही स्वर के कई मनुष्य हो सकते हैं, यह विचार कर कोई भी एक-दूसरे से नही पूछता। राजा की अन्तिम-बात से, तारा को अपने पुत्र की ओर से निराशा होगई। उन्होंने राजा से कहा, यदि मेरा दुर्भाग्य ऐसा ही है, यदि मैं अपने पुत्र को किसी प्रकार भी फिर जीवित नहीं देख सकती, और तुम्हारी इच्छा इसे जला देने की ही है, तो लो, जला दो।

राजा—यहाँ जो शव जलाये जाते हैं, उनके जलाने में व्यय होनेवाली लकड़ी के मूल्य-स्वरूप, एक टका कर देना पड़ता है। तुम भी एक-टका कर लाओ, तब तुम्हारा पुत्र जलाया जावेगा।

तारा—मेरे पास एक टका तो क्या, एक कौड़ी भी नहीं है, जो कर-स्वरूप दे सकूँ। मैं विवश हूँ। आप मुझ पर दया करके, इसे बिना कर लिए ही जला दीजिए।

समय! तेरी गति बड़ी विचित्र है। तू संसार के सब प्राणियों की स्थिति को, गाड़ी के पहिये की तरह घुमाया करता

है। जो रानी, नित्य हजारों का दान करती थी, वही आज एक टका कर के लिए, दया की भिक्षा माँग रही है। तेरा यह नियम ही है, कि जो आज धनवान दिखाई देता है, वही कल दर-दर भीख माँगता नजर आता है। ऐसा होते हुए भी तुझ में इतनी शक्ति जानते हुए भी, संसार के लोग तेरी प्रतिष्ठा नहीं करते और तेरी सदा उपेक्षा किया करते हैं। अस्तु।

रानी की बात सुनकर, राजा कहने लगे—मैं, यहाँ अनेक स्त्री-पुरुषों को अपने स्वजन का शव लेकर आते देखता हूँ, परन्तु तुम एक विचित्र स्त्री जान पड़ती हो, जो अपने पुत्र को जलाने की लकड़ी के लिए, एक टका भी न देकर, उसके लिए भी दया की भिक्षा चाह रही हो। क्या तुम्हारा कोई भी साथी नहीं है, जो तुम्हें एक टका देता? क्या विधवा हो?

तारा—महाशय! ऐसा न बोलिए, मैं विधवा नहीं सधवा हूँ।

हरिश्चन्द्र—फिर क्या तुम्हारा पति इतना निठुर है, जो न तो तुम्हारे साथ ही आया, न तुम्हें करके लिए एक टका ही दिया? क्या वह इतना निर्दयी है? उस पति को धिक्कार है, जो ऐसे समय में भी अपनी स्त्री की सहायता नहीं करता। ऐसे लोग, जो अपनी स्त्री की सहायता नहीं कर सकते, किसी स्त्री के पति क्यों बन जाते हैं और क्यों पति नाम को लजाते हैं?

राजा की इस बात को सुनकर, तारा को बहुत ही दुःख हुआ। वे, मन ही मन में कहने लगी—हाय, जो बात आजतक न हुई थी, वह भी आज होगई। मैंने, विश्वामित्र ऐसे ऋषि से भी पति की निन्दा न सुनी थी, लेकिन आज मैं अपने इन्हीं कानों से पति की निन्दा सुन रही हूँ। यह पति की महिमा में अनभिज्ञ

है, इसी से इसने पति के लिए ऐसे अशिष्ट-शब्दों का प्रयोग किया है। यदि यह, पति की महिमा जानता होता, तो ऐसा बोलने का साहस कदापि न कर सकता। फिर राजा से बोली—कृपाकर आप पति की निन्दा न कीजिए। आपको यह मालूम नहीं है कि मेरे पति कैसे हैं और वे किस कारण मुझ से पृथक् हुए हैं। मेरे पति न तो निठुर ही हैं, न निर्दयी ही। वे, बड़े ही दयालु हैं। सत्य-धर्म की रक्षा के लिए, अपना सब सुख त्यागकर, वे आप स्वयं घोर कष्ट उठाने को तैयार हुए हैं। मैं, उन्हे आँखों की पुतली के समान और यह पुत्र पुतली के तारों के समान प्रिय है, परन्तु धर्म-पालन के लिए, वे हमे त्यागकर, इस समय हम से दूर हैं।

तारा की बात सुनकर हरिश्चन्द्र विचारने लगे, कि ये सब बातें भी मुझ ही पर घटती हैं, इसका स्वर भी तारा के स्वर-सा प्रतीत होता है, तो क्या यह तारा है? क्या तारा पर आज इतनी विपत्ति है? लेकिन तारा पर ऐसी विपत्ति होना सम्भव नहीं। उन्होंने तारा से पूछा—क्या स्त्री, पुत्र और राज्य का त्यागी तुम्हारा पति हरिश्चन्द्र ही है? क्या तुम हरिश्चन्द्र की पतिव्रता-स्त्री तारा हो?

राजा की इस बात को सुनकर, तारा साश्चर्य विचारने लगीं कि यह श्मशान-रक्षक पति को और मुझको कैसे जानता है? वे इस प्रकार विचार कर ही रहीं थीं, कि मेघाच्छन्न आकाश में बिजली चमकी। बिजली के प्रकाश से, दम्पति ने एक-दूसरे को [illegible]। पति को देखकर, रानी को धैर्य हुआ, कि अब पति के [illegible]ने से मेरी चिन्ता कम हुई। अब मेरी दुःख-नौका को [illegible] मिल गई और रोहित के अग्नि-संस्कार का भार दो में विभक्त होगया।

संसार का यह नियम है, कि दु:ख के समय किसी स्वजन के मिलने पर जहाँ हर्ष होता है, वहीं दु:ख भी उमड पड़ता है। इसी के अनुसार, रानी को पति के मिलजाने से, इस समय जहाँ आनन्द हुआ, वहीं रोहित की मृत्यु के शोक ने भी उन्हे जोर से धर दबाया। इसी प्रकार, राजा को भी, रानी के मिलने का हर्ष होने के साथ ही, रोहित की मृत्यु का दु:ख भी हुआ। वे, मन ही मन कहने लगे—हाय! आज रोहित चल बसा! तारा की यह दशा है!

पतिको पहिचानकर, तारा रोती-रोती उनके पास पहुंची। उनके मुख से नाथ-नाथ के सिवा कुछ भी न निकलता था। उधर, राजा भी दु:ख से अधीर हो उठे। उनके मुख से भी केवल तारा ही तारा निकला, और कुछ नहीं। दु:खावेश मे, दम्पति एक दूसरे से लिपट गये और पुत्र के लिए विलाप करने लगे।

राजा कहने लगे—हा रोहित! हा पुत्र! हा हृदयसर्वस्व! तुम मुझे अकेला छोड़कर कहाँ चले गये? बेटा! मेरी तृषा के जल! रोग की औषधि! स्वास्थ्य के पथ्य! दुर्भावना की शान्ति हमें विपत्ति में छोडकर तुम कहां चले गये? तुम्हारी ही आशा से हम अबतक अनेक विपत्तियें सह रहे थे, परन्तु आज तुमने हमें निराश क्यों कर दिया? पुत्र! क्या [illegible] कुल [illegible] यु का यही समय था? हा! कुसुमवत् सुकुमार देह आज [illegible]स्थर पड़ी है! खंजन का मद भञ्जन करने योग्य तुम्हारे नेत्र, आज अधखुले दिखाई देते हैं! आज पृथ्वी पर मुझे पिता कहनेवाला कोई न रहा! हाय! आज मैं नि:सन्तान होगया! बेटा! उठो, उठकर एक-बार अपने पिता से तो कुछ कहो! वत्स! तुम्हारा पिता, तुम्हारे

विना कितना व्याकुल है यह तो देखो ! उसे कुछ शान्ति तो दो!

राजा और रानी, पुत्र-शोक से इतने अधीर हो उठे, कि विलाप करते-करते मूर्छित होगये। इस मूर्छा के कारण, वे पुत्र-शोक की वेदना से यद्यपि मुक्ति पागये, तथापि यह स्थिति अधिक देर तक न ठहर सकी ! जल-कण मिश्रित शीतल-पवन ने, उनके शरीर को स्पर्श करके उनकी मूर्छा को दूर कर दिया। मूर्छा के दूर होते ही पुत्र-शोक के दुःख ने, उन्हे पुनः घेर लिया और वे फिर विलाप करने लगे।

विलाप करते-करते, राजा कहने लगे—प्रिये तारा ! अब हमलोग संसार मे किस आशा से जीवित रहे ? आजतक तो यह आशा थी, कि पुत्र रोहित बड़ा होकर हमारे दुःख दूर कर देगा, हमे दासत्व से मुक्त करेगा, परन्तु आज यह आशा भी न रही। इस रोहित के सहारे से ही, मैं प्रसन्नतापूर्वक भङ्गी का सेवक बना हुआ था और तुम ब्राह्मण के यहाँ दासीपना करती थीं, परन्तु आज इस आशा का स्तम्भ ही टूट गया। अब, हम लोगो को संसार मे रहने से लाभ ही क्या है ? दिनरात पुत्र-शोक के दुःख से क्यो दग्ध हो ? इसलिए यही उचित है, कि रोहित के साथ ही हम लोग भी प्राण-त्याग कर, रोहित का अनुकरण करे। लेकिन प्राण-त्याग के पहले यह उचित है, कि हमलोग अपने धर्मपालन की आलोचना कर डाले, कि उसमे किसी प्रकार की कोई भूल तो नहीं हुई !

सांसारिक-मनुष्य, जब दुःख से घबरा उठते हैं, तब वे दुःख-मुक्त होने के लिए, आत्मघात का उपाय विचारते हैं और समझते हैं, कि ऐसा करने से हम दुःखमुक्त हो जावेगे। इसीके अनुसार

राजा और रानी ने भी आत्मघात करने का विचार किया और दोनों अपने-अपने धर्मकार्यों की आलोचना करने लगे। अपने धर्मकार्यों की अलोचना करते हुए राजा को ध्यान आया, कि मैं अपने धर्मकार्यों में छोटी-छोटी गल्तियाँ तो ढूँढ रहा हूँ, परन्तु इसमें जो हिमालय के समान भारी और भयङ्कर भूल हो रही है, वह मुझे दिखाई ही नहीं देती! मैं बिका हुआ दूसरे का दास हूँ। स्वामी ने मुझे श्मशान में रहकर, यहाँ आने वाले शव के अभिभावकों से कर वसूल करने और जिस शव का कर न प्राप्त हो, उसे न जलाने देने की आज्ञा दे रखी है। फिर मुझे रानी के साथ चिपटने और आत्महत्या का विचार करने का क्या अधिकार है? रानी भी, दूसरे के यहाँ बिकी हुई दासी है। उसे भी क्या अधिकार है, कि वह मेरी आज्ञा मानकर आत्महत्या करे? इनके सिवा, यह शरीर प्रकृति का बनाया हुआ है। हम, इसके किसी छोटे-से-छोटे भाग को भी बनाने में समर्थ नहीं हैं। जब हम इसे बना नहीं सकते, तो प्रकृति के नियम के विरुद्ध इसे नाश कैसे कर सकते हैं! हमें दोनों प्रकार से इसके नाश करने का अधिकार नहीं है। ओह! आत्महत्या और विश्वासघात, ये दोनों ही महापाप हैं, यह जानकर भी हम इस पाप में कैसे लिप्त हो रहे हैं?

यह विचार आते ही, राजा रुक गये और तारा से कहने लगे—अभागिनी तारा! हमलोग मरने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं हैं। तुम और मैं, दोनों ही दूसरे के क्रीत-दास हैं। इस प्रकार दुःख से व्यथित होकर आत्महत्या करना और अपने स्वामी को धोखा देना, अपना कार्य नहीं है। इसलिए मरने का विचार त्याग-

कर, धैर्यपूर्वक इस कष्ट को सहन करो और अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहो।

पति की बात सुनकर तारा कहने लगीं—नाथ! इसी कारण मैंने रोहित की मृत्यु के स्थान पर प्राणत्याग नहीं किया था, अन्यथा अबतक कभी से रोहित का अनुकरण करचुकी होती। परन्तु दुःखावेश में, इस समय मुझे यह ज्ञान न रहा और मैं आपकी आज्ञा मानकर, मरने के लिए तैयार होगई। अब परमात्मा की कृपा से, आप ही के हृदय में यह बात आगई, जिससे हमलोग आत्महत्या के पाप से भी बचगये और स्वामी के साथ विश्वासघात करने के पाप से भी।
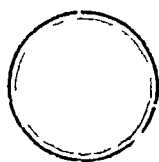
अन्तिम-कसौटी

यह विचारकर, कि आत्महत्या करना महान पाप है और हम आत्महत्या करने के लिए स्वतन्त्र भी नहीं हैं, राजा-रानी ने मरने का विचार त्याग दिया। अब, उनके सामने फिर रोहित के दाह-संस्कार की समस्या आखड़ी हुई। राजा कहने लगे—तारा, जो होना था, वह हो चुका, अब एक टका कर लाओ, तो रोहित को जला दें। मेरे क्रयी-स्वामी की आज्ञा है, कि बिना टका लिए शव जलाने को लकड़ी न दी जाय।

तारा—नाथ, आप टका किससे मांग रहे हैं? क्या दुःख के कारण इस समय आप अपने आपको भी भूल गये? यदि नहीं, तो फिर आप मुझसे टका कैसे मांग रहे हैं? मैं, आपकी वही अर्द्धांगिनी-स्त्री हूँ, जिसका विवाह आपके साथ विधिवत् हुआ था और यह शव आपके उसी पुत्र रोहित का है, जिसे आप प्राणों से भी अधिक प्रिय समझते थे। मैं, इसके शव को न मालूम किन-किन कष्टों को सहकर यहाँ तक लाई, अब इसके पिता होने के कारण आपका कर्त्तव्य है, कि आप इसका दाह-संस्कार करें, उलटी जगह आप और मुझी से कर

हैं ? नाथ, क्या आप से यह बात छिपी है, कि मैं दूसरे की दासी हूँ और मेरे पास एक पैसा भी नही है ? ऐसी दशा में आप मुझसे टका माँगे, यह कहाँ का न्याय है ?

ऐसी विकट परिस्थिति में पड़ कर, साधारण-कोटि के मनुष्यों का धैर्य छूट जाता है, परन्तु जो महापुरुष हैं, वे कठिन से कठिन सङ्कट पड़ने पर भी अपना धैर्य नही छोड़ते। किसी कवि ने कहा है:—

कदर्थितस्यापि हि धैर्य वृत्तेर्न शक्यते धैर्य गुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वन्हेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥

अर्थात्—धैर्यवान पुरुष, घोर-दुःख पड़ने पर भी, अपने धैर्य को नही छोडता। क्योंकि अग्नि को उल्टी कर देने पर भी उसकी शिखा ऊपर ही को रहती है, नीचे की ओर नहीं जाती।

इसी के अनुसार, हरिश्चन्द्र, यहाँ भी धैर्य से विचलित न हुए और कहने लगे—तारा, यद्यपि तुम्हारा यह कथन अनुचित नही है, परन्तु यह तो बताओ कि तुम ब्राह्मण के यहाँ दासीपना क्यों कर रही हो ?

तारा—सत्य और धर्म की रक्षा के लिए।

हरिश्चन्द्र—जिस सत्य और धर्म की रक्षा के लिए राजपाट छोड़ा, मजदूरी की, तुम ब्राह्मण के यहाँ और मैं भङ्गी के यहाँ बिका, जिस सत्य के लिए इतने कष्ट सहे, क्या उस सत्य और धर्म को केवल एक टके के लिए चला जाने दें ? तुमने, एक-सहस्र स्वर्णमुद्राओं के समय भी धर्म छोड़ने को न कहा, अपितु

धर्म-रक्षा के लिए पहले स्वयं ही बिकीं, क्या उसी धर्म को केवल एक टके के वास्ते छोड़ देने को तुम कहती हो? मुझे अपने स्वामी की आज्ञा है, कि बिना कर लिये श्मशान की लकड़ी से, किसी शव का अग्निसंस्कार न होने दिया जाय, ऐसी दशा में, मैं तुम्हारे या पुत्र के मोह मे पड़कर, बिना टका लिये श्मशान की लकड़ी से अग्निसंस्कार कर दूँ, तो क्या धर्म न जायगा? मैं, भङ्गी का दास हूँ, उन्हीं की आज्ञा से मै श्मशान की रख-वाली और लकड़ी के मूल्य-स्वरूप एक टका कर वसूल करता हूँ, ऐसी दशा में चाहे मेरा पुत्र हो, या दूसरे का, मैं बिना कर लिये कदापि लकडी नहीं लेने दूँगा। मैं, सारे संसार को छोड़ सकता हूँ, परन्तु सत्य को नहीं छोड सकता। तुम्हींने मुझे शिक्षा दी है, कि सत्य की प्राणपण से रक्षा करनी चाहिए। तुम्हारी उस शिक्षा के धारण करने से, अब मैं सत्यपालन मे इतना दृढ़ हो गया हूँ, कि संसार का कोई पदार्थ मुझे सत्य से विचलित करने मे, समर्थ नहीं हो सकता। ये सांसारिक-पदार्थ अनित्य हैं और सत्य नित्य है। नित्य को छोड़कर, अनित्य को अपनाने की मूर्खता, कोई भी बुद्धिमान नहीं कर सकता। यदि मैं, इस समय केवल एक टके के लिए कर्त्तव्य से पराङ्मुख हो जाऊँ, तो सत्य की रक्षा के लिए अबतक जो कष्ट सहे हैं, वे सब [illegible] हो जाँयगे। तथा इतने कष्ट सहकर भी, जिस सत्य की रक्षा की है, उस सत्य से मैं और तुम दोनो ही दूर हो जावेंगे। [illegible] [illegible] में भी; जब हमलोग नहीं घबराये और [illegible] [illegible] [illegible] सत्य की रक्षा की, तो अब इस [illegible] टके [illegible] [illegible] सत्य को त्याग देना कैसे उचित होगा [illegible]।

तुम्हारी रक्षा करना और पुत्र का अन्तिम-संस्कार करना यद्यपि मेरा कर्त्तव्य है, तथापि मै विवश हूँ । मुझे, विना कर वसूल किये, शव जलाने देने का किञ्चित भी अधिकार नही है, इसलिए, मुझसे बिना कर लिये जलाने देने की आशा छोड़ो और कर चुकाने का कोई उपाय करो ।

पाठकगण ! कहाँ तो आज के वे लोग हैं, जो अकारण ही या थोड़े से लोभ मे पड़कर, दिनदहाड़े लोगो की आँखो मे धूल झोकते और झूठी सौगन्दे खा-खाकर सत्य का त्याग करते हैं, और कहाँ सत्यमूर्ति महाराजा हरिश्चन्द्र हैं, जो आधी और अँधेरी-रात मे भी, अपनी स्त्री पर दया करके, अपना सत्य छोड़कर, अपने ही पुत्र को जलाने की—विना कर लिये—स्वीकृति नही देते । कहाँ तो आज के वे लोग है, जो सत्य बात को झूठ और झूठ को सत्य बना देते है, स्वामी क्या, अपने ही स्त्री-पुत्र और धर्म को धोखा देने मे भी नही हिचकिचाते, और कहाँ हरिश्चन्द्र हैं, जो स्वामी के उचित कर को, अपने पुत्र के लिए, इस विपदावस्था मे भी नही छोड़ रहे हैं। इस अन्तर का कारण, केवल सत्य पर विश्वास न होना और होना है । आज के ऐसे लोगो को, सत्य पर विश्वास नहीं है । वे विचारते है, कि यहाँ कौन देख रहा है ? या हमारे झूठ को कौन समझ सकता है ?-परन्तु हरिश्चन्द्र को सत्य पर विश्वास था । वे, इस बात को खूब समझते थे, कि सत्य सर्वत्र व्यापक है, यह किसी समय भी छिपाने से नही छिप सकता और इसे छिपाने की चेष्टा करना भी पाप है ।

आज की, अधिकांश—स्त्रियो के विचारानुसार, हरिश्चन्द्र के उपरोक्त कथन पर, तारा को दुःख होना स्वाभाविक था, परन्तु

ता के विचार, ऐसी स्त्रियो के विचारो से सर्वथा विपरीत थे। उन्हें सत्य और धर्म उसी प्रकार प्रिय थे, जैसे कि वे हरिश्चन्द्र को प्रिय थे। वे, महान् से महान् दु ख मे भी, अपने स्वार्थ के लिए भी, पति से सत्य छोड़ने का आग्रह करना न जानती थी। अस्तु।

पति की बात सुनकर, तारा कहने लगी—नाथ ! आपका कथन यथार्थ है। दु.ख के आधिक्य से मेरी बुद्धि अस्थिर थी. इसी कारण मैंने आपसे, बिना कर लिए पुत्र का अग्निसंस्कार करने की प्रार्थना की थी। स्वामी की आज्ञा का पालन करना. आपका कर्त्तव्य है और कर्त्तव्य पर स्थिर न रहना ही, धर्म का त्याग है। इसलिए, आप अपने स्वामी की आज्ञा, उल्लंघन न करिए। परन्तु प्रश्न यह है, कि मेरे पास कर देने को टका नहीं है, तो क्या पुत्र का शव बिना जलाये यो ही पडा रहेगा ?

हरिश्चन्द्र—प्रिये ! तुम्ही विचारो, कि बिना टका दिये. अग्निसंस्कार कैसे हो सकता है ? सौभाग्य से स्वामी (भंगी) यहां आजावे और वे दया करके बिना कर लिये, अग्निसंस्कार करने की स्वीकृति दे दे, तो यह दूसरी बात है, अन्यथा बिना कर दिये. पुत्र का अग्निसंस्कार होना सर्वथा असम्भव है।

राजा का यह उत्तर सुन, तारा को बहुत ही दु ख हुआ। वह अपने पुत्र के पास गिरकर रुदन करने लगी और कहने लगी—हाय ! आज यह पुत्र ऐसा अभागा हो गया है, जिसका टके के बिना इसका शव यों ही पड़ा है ! जिसके जन्मोत्सव मे हजारों-लाखों रुपये व्यय किये गये थे, आज उसी की मृत्यु होने पर

लकड़ी के लिए एक टका भी नहीं है, जो देकर इसका अग्नि-संस्कार करूँ !

रानी, इस प्रकार करुणापूर्ण विलाप कर रही थी, कि सहसा उन्हें ध्यान आया, कि इस प्रकार रुदन और विलाप से पुत्र के अग्निसस्कार मे न तो किसी प्रकार का लाभ ही हो सकता है, न कहीं से किसी प्रकार की सहायता मिलने की ही आशा है। मेरे पास यह जो पहनने की साड़ी है, क्या इसमे की आधी-साड़ी, एक टके मूल्य की भी न होगी ? एक टके की ही नहीं, यह तो एक टके से बहुत अधिक मूल्य की होगी, फिर इसमें से आधी साड़ी फाडकर, एक टके के बदले क्यो न दे दूँ और इसे देकर अपने पुत्र का अग्निसंस्कार क्यो न करूँ ? यदि ब्राह्मण को मेरी दशा पर दया आवेगी और वे मुझे कोई दूसरा वस्त्र दे देंगे, तब तो अच्छा ही है, अन्यथा आधी-साड़ी से ही मैं अपना तन ढाँके रहूँगी; लेकिन पुत्र को बिना अग्निसंस्कार किये पड़ा रहने देना, मातृ-कर्त्तव्य के विरुद्ध है।

इस प्रकार विचारकर, रानी ने अपनी साड़ी मे से आधी साड़ी फाड़ी और राजा से कहने लगी—आप एक टका कर के बदले मे यह वस्त्र, जो एक टके से अधिक मूल्य का है, ले लीजिए। अब तो आपको पुत्र का अग्निसंस्कार करने मे किसी प्रकार की आपत्ति नही है ?

पाठकगण ! साधारण मनुष्य का ऐसी अवस्था मे सत्य से विचलित हो जाना, आश्चर्य की बात नही है; लेकिन हरिश्चन्द्र असाधारण पुरुष हैं, जो इस दशा मे भी सत्य से विचलित न हुए। स्त्री की ऐसी दशा देखकर, पुरुष का हृदय पसीज उठना

राजा-रानी आश्चर्य-चकित रह गये। उसी समय, एक दिव्य-शरीरधारी देव, आकाश से उतरकर राजा और रानी के पास आखड़ा हुआ। यह वही देव है, जिसने हरिश्चन्द्र को सत्यभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा की थी। इसी देव ने, इन्हे इतने कष्ट मे डाला था और अपनी माया से, रोहित को सॉप से डसाकर, उसे निर्जीव-सा कर दिया था। इस अन्तिम कसौटी मे भी, राजा को सत्य पर दृढ़ देख, उसका अभिमान काफूर की तरह उड़-गया। अब उसने दीनता धारण की और अपने किये पर पश्चा-ताप करने लगा। श्मशान मे आकर, सबसे पहले उसने रोहित पर से अपनी माया हटाई। माया हटते ही, रोहित उठकर उसी प्रकार खड़ा होगया, जैसे सोकर उठा हो।

अपने समीप, एक दिव्य-शरीरधारी देव को खड़ा, तथा रोहित को इस प्रकार जीवित होजाते देख, राजा और रानी का आश्चर्य अत्यधिक बढ़ गया। वे, इस बात को न समझ सके, कि यह सब क्या होरहा है, हमारे समीप यह कौन आखड़ा हुआ है और मृत रोहित जीवित कैसे होगया ? इतने ही मे वह देव नम्रता दिखाता हुआ, राजा और रानी से कहने लगा—आप लोग मुझपर दया करके मेरा अपराध क्षमा कीजिए।

देव की इस क्षमा-प्रार्थना से तो, राजा-रानी के आश्चर्य का और भी ठिकाना न रहा। राजा ने देव से कहा—मै नही जानता कि आप कौन हैं और आपने मेरा क्या अपराध किया है। कदा-चित आपने मेरा कोई अपराध किया भी हो, तब भी मुझे आप पर किसी प्रकार का क्रोध नही हो सकता।

राजा की बात के उत्तर मे, देव अपना परिचय देकर उनसे

कहने लगा—महाराज, इन्द्रसभा में इन्द्र के मुख से आपके सत्य की प्रशंसा सुन, मुझे अपने स्वभावानुसार क्रोध हो आया। मैंने विचारा, कि इन्द्र, हम देवों के सामने मनुष्य की प्रशंसा कैसे करता है। मुझे, इन्द्र द्वारा की गई आपकी प्रशंसा असह्य हुई और मैंने आपको सत्यभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा की। इस प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए ही, मैंने अप्सराओं को भेजकर, विश्वामित्र का उपवन ध्वंस कराया था और इस तरह विश्वामित्र को कुपित कराकर, आप लोगों को कष्ट में डाला था। रोहित को भी, मैंने ही सर्प बनकर डसा था, तथा उसे माया से निर्जीव-सा बना दिया था। मैंने, अब उसपर से अपनी माया उठाली, इसी से यह उठ खड़ा हुआ है। ये सब कार्य, मैंने आपको सत्य से विचलित करने के लिए ही किये थे, परन्तु आप इन घोर-कष्टों के समय भी सत्य से विचलित न हुए। अब, मेरा अभिमान दूर हुआ है। मैं, आपकी सत्यशीलता को समझ सका हूँ। मैंने, अभिमानवश अकारण ही आपको इतने कष्ट दिये हैं इसके लिए मैं आपसे क्षमा प्रार्थी हूँ। यदि आप, मेरे अपराधों को क्षमा कर देंगे, तब तो ठीक है, अन्यथा मेरे ये पाप मुझे सदा दुःख देते रहेंगे और मेरी आत्मा को कभी शान्ति न मिलेगी।

द्वारा मेरे सत्य की परीक्षा न होती, तो मै न समझता, कि मैं कहाँ तक सत्य का पालन करसकता हूँ। आपने, मेरे सत्य की परीक्षा के लिए, स्वर्गसुख छोड़ कर कष्ट उठाया, इसके लिए आप धन्य-वाद के पात्र है।

देव—आपका यह कथन भी, आपकी महानता का परिचायक है; लेकिन वास्तव मे उपकारी मै नही, किन्तु आप है। यदि आप इन कष्टो को सहन न करते, तो मुझ मे जो अभिमान था, वह भी नष्ट न होता और सत्य पर भी मुझे अश्रद्धा होजाती। मुझ मे अबतक बहुत ही अभिमान था। मै, अभिमानवश इन्द्र को भी कुछ नही समझता था; लेकिन आपने कष्ट सहन करके, मेरे अभिमान का नाश कर दिया। अब, मुझ मे वह अभिमान किंचित्मात्र भी नहीं रहा, जो कुछ समय पूर्व था। आपने जो कष्ट-सहे है, वे सब मेरा उपकार करने के लिए हो। आपकी इस कष्ट सहन की तपस्या से ही, मेरा वह अभिमान नष्ट हुआ है, जो और किसी तरह नष्ट नही हो सकता था। मैं, आया तो था आपको कष्ट देने, लेकिन मै उसी प्रकार शुद्ध होगया, जैसे पारस को काटने वाली छुरी, पारस के स्पर्श से स्वयं ही सोने की बन-जाती है। मेरे द्वारा, इतने कष्ट पाने पर भी, आपने मेरे अपराध क्षमा कर दिये, यह आपकी महान् उदारता है। आपके क्षमा करने से, मेरा अज्ञान भी मिट गया और मेरा आत्मा भी पवित्र होगया।

से चिन्तित थे ही, दूसरे प्रजा की इस अवस्था की चिन्ता ने उन्हें और भी घेर लिया। वे विचारने लगे, कि यदि प्रजा की यही दशा रही, तो सारी प्रजा थोड़े ही दिनो मे हरिश्चन्द्र की विरहाग्नि मे जल मरेगी। हरिश्चन्द्र ने, चलते समय जो उपदेश दिया है, उसके अनुसार हमारा कर्त्तव्य है, कि प्रजा को इस चिन्ता को दूर करके, उसे अपने कर्त्तव्य पर पुन. आरूढ़ करे।

इस प्रकार विचार कर, वे मुखिया, प्रजा को समझाने लगे। उन्होंने, प्रजा का ध्यान हरिश्चन्द्र के उपदेश की ओर आकर्शित किया और उसे समझाया; कि इस प्रकार हरिश्चन्द्र की चिन्ता करके यदि आप प्राण भी छोड दे, तब भी कोई लाभ नहीं है। अत. यही उचित है, कि महाराजा हरिश्चन्द्र के आदेशानुसार रहकर, जीवन व्यतीत करे।

मुखियो के, इस प्रकार समझाने-बुझाने पर, प्रजा को कुछ धैर्य हुआ। उधर विश्वामित्र, प्रजा के हृदय मे हरिश्चन्द्र के प्रति जो सद्भाव हैं, उन्हे मिटाकर अपना प्रभाव जमाने के लिए, कठोरतापूर्वक शासन करने लगे। उनके शासन से, सभासद्गण रुष्ट हो गये और विश्वामित्र के इस कठोर शासन का प्रतिकार करने के लिए, उन्होंने एक प्रजा-परिषद् स्थापित की। विश्वामित्र, प्रजा पर अपना प्रभाव जमाने के लिए जो भी कठोर नियम प्रचलित करते, यह परिषद् उनका विरोध करती, तथा सत्याग्रह द्वारा उनके नियम को कार्यरूप मे परिणित न होने देती। प्रजा के इस कार्य से, विश्वामित्र दिन-प्रति-दिन और भी अधिक चिढ़ते जाते। चिढ़-चिढ़कर, वे प्रजा पर अपना आतङ्क जमाने के लिए, विशेष अत्याचार करने लगे। प्रजा, उनके अत्याचारो को धैर्य-

विश्वामित्र, जब किसी प्रकार भी प्रजा के हृदय पर से, हरिश्चन्द्र का आधिपत्य मिटाकर, अपना आधिपत्य न जमा सके और इस ओर से निराश होगए, तब विवश हो, उन्होने प्रजा को राजसभा मे आमन्त्रित किया । प्रजा के आजाने पर, वे कहने लगे—मैने, आपके राजा को तथा आपको, बहुत ही कष्ट दिया है। राजा, राजपरिवार और आप लोगो की सहनशीलता अग्नि बनकर मुझे जलाये दे रही है । मै, अपने कार्यों के लिए हृदय से पश्चात्ताप करता हूँ और आप लोगो से क्षमा चाहता हूँ । अब, मै राज्यकार्य छोड़ता हूँ और आप लोगो के प्रिय राजा को भी, बहुत शीघ्र खोज लाता हूँ । आप लोग, उन्हे पुनः अपना राजा बनाकर प्रसन्नता से रहे ।

विश्वामित्र की इन बातो को सुनकर, प्रजा वैसी ही प्रसन्न हो उठी, जैसे खोया हुआ धन पुन मिलने की आशा हो गई हो । सारी प्रजा, विश्वामित्र के इस विचार की प्रशंसा करने लगी और उन्हें धन्यवाद देने लगी ।

हरिश्चन्द्र को लाकर पुन राजसिहासन पर आरूढ़ करने की अभिलाषा को, कार्यरूप मे परिणत करने के विचार से, विश्वामित्र अयोध्या से काशी की ओर चले । मार्ग मे, उनके हृदय मे अनेक सङ्कल्प-विकल्प होते जा रहे है । उनके चित्त मे, रह-रह कर यह शङ्का होती है, कि मेरी प्रार्थना पर हरिश्चन्द्र अवध को लौट आवेगे या नही ? किन्तु जैसे भी होगा, वैसे उनको लाऊँगा अवश्य, यह निश्चय करके, विश्वामित्र अपना मार्ग काटने लगे।

पश्चात्, उन्हे सभा के बीच मे रखे हुए रत्न-सिंहासन पर बैठाया और इन्द्र तथा सब देवी-देवता, उनकी स्तुति करने लगे।

पाठकगण! कुछ ही देर पहले हरिश्चन्द्र और तारा, अन्धकारमयी-रात्रि मे, श्मशान के मध्य अपने प्रिय-पुत्र के शोक से दु:खित थे। अब इनको दासत्व से मुक्त होने की, कोई आशा न थी। परन्तु थोड़ी ही देर बाद, अन्धकार की जगह प्रकाश और शोक की जगह हर्ष प्राप्त हुआ है। यदि इस समय, राजा और रानी अपने सत्य पर स्थिर न रहते, यदि वे बिना कर लिए-दिये ही पुत्र का अग्निसंस्कार करने के लिए तैयार होजाते, तो न तो उन्हे यह प्रकाश ही मिलता, न आनन्द ही। सारांश यह, कि सत्यपालन मे इन्होने जितना कष्ट उठाया है, वह कष्ट सत्यपालन की तपस्या थी और उस तपस्या के फल-स्वरूप ही यह प्रकाश और आनन्द प्राप्त हुआ है। सत्यपालन मे, कष्ट को धैर्यपूर्वक सहने और उन कष्टो से भयभीत हो सत्य न छोड़ने का ही यह परिणाम है। किसी शायर ने कहा है:—

सब्र तलखिस्त व लेकिन बरें शीरीं दारद।

अर्थात्—सन्तोष कडुआ अवश्य है, लेकिन फल मीठे ही देता है।

इसीके अनुसार, सत्यपालन मे कष्ट चाहे सहने पड़े, परन्तु उन कष्टो को धैर्यपूर्वक सहलेने और सत्य से विचलित न होने पर, वह स्थायी आनन्द प्राप्त होता है, जो झूठ द्वारा प्राप्त अस्थायी आनन्द से असंख्य गुना बढ़कर है। सत्यपालन करने वाले के कष्ट भी सदा नही रहते। वे, क्षणभर के बाद ही सुख

श्मशान मे, अभूतपूर्व प्रकाश देख और कोलाहल सुन, काशी-निवासी, आश्चर्यसहित विचारने लगे, कि आज श्मशान में यह प्रकाश और कोलहल कैसा है ? बहुत से लोग, श्मशान की ओर इस प्रकाशमय दृश्य को देखने के लिए दौड़े। महाराजा हरिश्चन्द्र का क्रयी भंगी भी, यह विचारकर श्मशान मे दौड़ा हुआ आया, कि आज मेरे श्मशान मे क्या गडबड़ है। भङ्गी जैसे ही श्मशान मे पहुँचा और राजा की दृष्टि उसपर पड़ी, वैसे ही राजा सिहासन पर से उतर पड़े। उन्होने, भङ्गी का सत्कार करते हुए कहा, कि स्वामी ! यह सब आप ही के चरणो का प्रताप है। आप ही ने मुझे खरीदकर, मेरे सत्य की रक्षा की थी, यह उसी का फल है।

भङ्गी, हाथ जोड़कर राजा से कहने लगा—आप मुझे क्षमा कीजिए। आप के साथ, मैने तथा मेरी स्त्री ने, बहुत अभद्र व्यवहार किया है ! मैं, उस पाप से दबा जा रहा हूँ। अत. आप मुझे क्षमा करके मेरा उद्धार कीजिए।

राजा—नही स्वामी, आपकी ओर से मेरे साथ सदा सहृदयता का ही व्यवहार हुआ है। मालिकिन भी बड़ी कृपालु हैं। उन्ही की कृपा से, मुझे श्मशान-रक्षा का कार्य मिला था, जिसका फल आप प्रत्यक्ष देख रहे है।

सज्जन-मनुष्य, अपकारी के अपकार को तो भूल जाते है, परन्तु उपकारी के उपकार को, किसी समय भी नही भूलते। किसी उच्च-स्थिति पर पहुँच जाने पर भी, वे उपकारी के उपकार को याद रखते और कृतज्ञता प्रकट करते रहते है। इसी के अनुसार, इस समय देवताओ से सेवित होने पर भी, हरिश्चन्द्र ने,

भङ्गी को अपना उपकारी जान, उसके सन्मुख नम्रता प्रकट की। अस्तु।

हरिश्चन्द्र ने, सब देवो से भङ्गी का परिचय कराते हुए कहा, कि ये ही मेरे स्वामी है। मै, इन्ही की कृपा से सत्यपालन में समर्थ हो सका हूँ। मेरा मूल्य न लगने के कारण, मैं सत्य-भ्रष्ट हो रहा था, उस समय इन्ही ने मुझे खरीदकर, मेरे सत्य की रक्षा की थी। मैं इनकी जितनी भी प्रशंसा करूँ, वह कम है। इनके उपकार से, मैं कभी उऋण नही हो सकता।

हरिश्चन्द्र की बात सुनकर, सब देवो ने उस भङ्गी की बहुत प्रशंसा की और-उसका सत्कार किया।

वात की बात मे, यह समाचार सारे नगर मे फैल गया, कि अयोध्या के भूतपूर्व महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा, आज श्मशान मे प्रकट हुए हैं। यह समाचार सुनते ही, सारे नगर-निवासी श्मशान मे एकत्रित होगये। काशी-नरेश भी श्मशान की ओर चले। वे, मन ही मन पश्चाताप करते जाते थे, कि पत्नी-पुत्र सहित महाराजा हरिश्चन्द्र मेरे ही नगर मे इतने दिन रहे और मुझे इसका पता भी नही लगा, यह मेरे लिए लज्जास्पद वात है।

महारानी तारा का क्रयी ब्राह्मण भी, उनकी चिन्ता कर रहा था, कि दासी अबतक अपने पुत्र की अन्त्येष्टि-क्रिया करके क्यो नहीं लौटी? कही वह मर या भाग तो नही गई? इतने मे ही उसने, महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के श्मशान मे प्रकट होने की वात सुनी। 'एक पन्थ दो काज' की कहावत को विचार कर ब्राह्मण भी श्मशान में आया, कि हरिश्चन्द्र और तारा

को भी देखता आऊँगा, तथा अपनी दासी की खोज भी करता आऊँगा। श्मशान मे आकर जब उसने यह देखा, कि दासी तो यहाँ रानी बनी हुई बैठी है, तब तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह, मन ही मन पछताने लगा, कि अवध की महारानी तारा ही मेरे यहाँ दासी बनकर रहती थी। उनसे मैंने बहुत ही निकृष्ट सेवाएँ कराई और बहुत ही कठोर व्यवहार किया है। अब, मै किस मुख से उनके सन्मुख जाऊँ ?

उधर रानी भी चिन्तित थी, कि मालिक ने मुझे कुछ ही समय का अवकाश दिया था, परन्तु मुझे बहुत देर हो गई। अब भी मैं इस झंझट मे फँसी हूँ, इसके लिए स्वामी न मालूम क्या कहेगे। इतने मे, रानी की दृष्टि ब्राह्मण पर पड़ी ही तो। ब्राह्मण को देखते ही, रानी सिंहासन से उतर पड़ी, और हाथ जोड़कर ब्राह्मण से कहने लगी—महाराज, मेरा अपराध क्षमा कीजिए। मै, अन्य प्रपंच मे पड़ गई थी, इसी कारण अब तक नहीं आ सकी।

तारा की प्रार्थना के उत्तर मे, ब्राह्मण तारा के पैरो पर गिर-कर कहने लगा—महारानीजी, मैने अज्ञानवश आपसे दासी का काम कराया और निकृष्ट सेवाएँ ली तथा आपके साथ अमानुषिकता-पूर्ण कठोर व्यवहार किया। अब, मेरा वह अज्ञान नाश हो चुका है, अतः मैं आपसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। आप मुझे क्षमा कीजिए।

ब्राह्मण को उठाते हुए, तारा कहने लगी—आपने मुझ पर बड़ी कृपा की है। आप ही की कृपा से, मै आधा-ऋण चुका सकी थी। यदि, उस समय आप न होते, तो मेरे पति निःसन्देह

सत्य-भ्रष्ट होजाते। आपकी वह कृपा, कभी भूलने योग्य नहीं है।

ब्राह्मण ने, तारा के साथ बहुत ही दुर्व्यवहार किया था। लेकिन तारा ने उसके दुर्व्यवहार का जिकर तक न किया और उसने जो सद्व्यवहार किये थे, उन्ही की प्रशंसा करती रही।

सज्जनो मे, स्वाभाविक ही यह गुण होता है, कि वे दुर्व्यवहार पर ध्यान न देकर, केवल सद्व्यवहार पर ही ध्यान देते हैं। जहाँ दुर्जन-मनुष्य, किसी के द्वारा किये गये अनेक सद्व्यवहारो पर दृष्टि न देकर, अपवाद स्वरूप जो एक-आध दुर्व्यवहार हो-जाता है, उसी का वर्णन किया करते हैं, वहाँ सज्जन-मनुष्य, अनेक दुर्व्यवहारों की भी उपेक्षा करके, जो एक-आधा सद्व्यहार हुआ होता है, उसी को महत्व देते हैं और उसी की प्रशंसा करते है। इसी के अनुसार, रानी भी, अपने क्रयी के अनेक-दुर्व्यवहारो पर ध्यान न देकर, उसके थोड़े-से सद्व्यवहार को ही बडा रूप दे रही हैं। अस्तु।

रानी के द्वारा, ब्राह्मण के प्रति प्रकट किये गये कृतज्ञतापूर्ण-भावो को सुनकर, देवताओ ने, ब्राह्मण की प्रशंसा करते हुए उस-का भी सत्कार किया।

वे सेठ-साहूकार लोग, जिनके पास महाराजा हरिश्चन्द्र नौकरी के लिए गये थे, और जिन्होंने उनकी बात भी न सुनी थी—या सुनकर टरका दिया था—महाराजा हरिश्चन्द्र को दे
बहुत ही लज्जित हुए। वे, राजा के सन्मुख पश्चात्ताप
करते हुए, अपने अपराध की क्षमा माँगने लगे।
इन्हे आश्वासन देते हुए कहा, कि आप लोगो ने कोई
नहीं किया है। आप लोग, साधारण-बुद्धि से

है, ऐसी अवस्था में, बिना परिचय प्राप्त हुए मुझे कैसे पहिचान सकते थे ? यदि इस पर भी आप अपने को अपराधी समझते हैं, तो इसका प्रायश्चित्त यही है, कि भविष्य मे अपने यहाँ आये हुए किसी दीन-दुःखी का अपमान करके, उसे दुतकारिये नहीं, किन्तु उसका दु ख दूर करने की चेष्टा कीजिए।

काशी-नरेश, श्मशान मे पहुँचकर महाराजा हरिश्चन्द्र से कहने लगे, कि मै नितान्त-अज्ञानी और हत्भाग्य नरेश हूँ। आपने इतने दिन मेरे नगर मे रहकर कष्ट उठाये, लेकिन मुझे इसकी खबर तक नही, इससे अधिक अज्ञानता क्या होगी ? आप, मेरे अपराध को क्षमा कीजिए और कृपा करके यह बतलाइए, कि इस अज्ञानता तथा अपराध का क्या प्रयाश्चित्त करूँ ?

हरिश्चन्द्र ने, काशीनरेश का सत्कार करके उन्हे आश्वासन दिया, और कहने लगे, कि आप अकारण ही पश्चात्ताप करते हैं। यदि आपको, मेरे आने की सूचना मिली होती, तो आप मुझसे अवश्य ही मिलते। लेकित, जब मैंने किसी को अपना परिचय ही नही दिया, और परिचय न देने के कारण आपको सूचना ही नही मिली, ऐसी अवस्था मे आपका क्या अपराध है ? मैंने, किसी को अपना पता नहीं दिया, इसका कारण स्पष्ट है। परिचय देने से, आप निश्चय ही मुझे अपने महल को लिवा लेजाते और मेरा ऋण चुकाकर, मुझे अपना अतिथि बनाते। ऐसी दशा मे, आज आप जो रचना देख रहे हैं, यह रचना कैसे होती ? इसलिए आप इस विषय मे खेद न कीजिए। खेद की बात यह अवश्य होसकती है, कि जिस काशी की भूमि पवित्र मानी जाती है, जिस काशी मे अयोध्या से आकर मैंने लाभ

उठाया है; जिस काशी की भूमि में मैं अपने सत्यपालन में समर्थ होसका हूँ और सत्यपालन के लिए बिकने मे भी मुझे लज्जा न आई, आपलोग उसी काशी के निवासी होकर, वहीं रहते हुए, सत्य का पालन न कर सके। काशी की भूमि, तभी लाभदायक होसकती है, जब यहाँ सत्य का पालन हो। बिना सत्यपालन किये, काशी की भूमि उसी प्रकार लाभप्रद नहीं होसकती, जैसे खेत उपजाऊ होने पर भी, उसमे बीज न बोने से, वह लाभप्रद नहीं हो सकता। यदि, केवल यहाँ रहने का ही महत्त्व होता, तो फिर मुझे बिकने की क्या आवश्यकता थी ? लेकिन, वास्तव मे किसी क्षेत्र-विशेष का महत्व नहीं है, अपितु चरित्र का महत्व है। अन्य स्थान मे रहकर भी, जो चरित्रवान् है, उसके लिए वह भूमि भी काशी की भूमि से विशेष लाभप्रद है। और काशी की भूमि में रहकर भी, जो चारित्र्य का पालन नहीं करता, उसके लिए सभी भूमि समान है। अत सत्यपालन द्वारा, इस भूमि से लाभ उठाइए और राज्य के धन को, प्रजा की धरोहर समझकर, उसे प्रजाहित के कार्यों में लगाइए। तथा ऐसा करते हुए अपनी आत्मा का कल्याण चिंतन कीजिए। इस प्रायश्चित्त से, आपका खेद भी मिट जावेगा और आपको लाभ भी होगा।

इसी प्रकार सभी काशी-निवासियो ने, राजा-रानी को अपने नगर में रहने पर भी न पहचान सकने का, पश्चात्ताप किया राजा ने, सबको आश्वासन दिया और उन्हें समझाया, कि ज [illegible]ने अपना परिचय ही किसी को नहीं दिया, तब आप लो[illegible] अकारण ही पश्चात्ताप क्यो करते हैं। इस प्रकार, सबके [illegible] को, राजा ने सहृदयतापूर्ण-भाषा से शान्त किया।

अयोध्या से चले हुए विश्वामित्र भी उसी समय काशी आ-पहुँचे, जिस समय श्मशान मे यह सब लीला हो रही थी। श्मशान मे, अद्भुत प्रकाश देख, तथा हरिश्चन्द्र और तारा के जयघोष के साथ-साथ बहुत कोलाहल सुन, विश्वामित्र भी वही पहुँच गये। वहाँ जाकर देखते हैं, कि जिन राजा-रानी को खोजने वे निकले है, वे महाराजा हरिश्चन्द्र सिहासन पर विराजमान हैं, उनके पास ही रोहित को गोद मे लिये हुए तारा बैठी हैं और इन्द्रादि सब देव उनकी स्तुति कर रहे हैं। विश्वामित्र वहीं से उच्च-स्वर मे हरिश्चन्द्र और तारा का जयघोष करने लगे। हरिश्चन्द्र ने जैसे ही विश्वामित्र को देखा, वैसे ही तारा सहित सिंहासन पर से उतर पड़े। हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित ने, विश्वामित्र को प्रणाम किया। उपस्थित लोग, विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र दोनो के व्यवहार को देखकर आश्चर्यचकित रह गये और विचारने लगे, कि ये वे ही विश्वामित्र है, जिन्होने हरिश्चन्द्र को इतने कष्ट में डाला था, परन्तु आज स्वयं ही हरिश्चन्द्र और तारा का जयघोष कर रहे है। तथा ये हरिश्चन्द्र और तारा भी वे ही है, जिन्होने विश्वामित्र द्वारा इतने कष्ट पाये है, फिर भी अपने कष्टदाता-विश्वामित्र का सत्कार कर रहे हैं।

विश्वामित्र ने, राजा और रानी से कहा, कि आप लोग सिहा-सन पर ही वैठिए। आपलोगो की महिमा, अब मेरी समझ मे आई है। अब तक, मैं समझता था, कि मेरा क्रोध ही अपार है, परन्तु अब मैं इतने अनुभव के पश्चात् यह वात स्वीकार करता हूँ, कि आपलोगो का सत्य और धर्म मेरे क्रोध से भी अपार है! वात को, मैंने हठवश अब तक स्वीकार न की थी, वही वात

आज आपलोगों के सत्य से पराजित हो, मैं स्वीकार करता हूँ। आपलोगों ने, अपने सत्य और अपनी सहनशीलता द्वारा, मेरे तप को पराजित कर दिया, तथा इसके साथ ही मेरे क्रोध का भी नाश कर दिया है। जिस क्रोध के कारण, मैंने अनेक हानियें उठाईं; जिस क्रोध ने मेरी तपस्या के बल का नाश कराया; जिस क्रोध के वश होकर मैंने, निरपराधो और आप ऐसे सज्जनों को कष्ट में डाला, उस मेरे क्रोध को, आपने अपनी क्षमा द्वारा जीत लिया। इस दुष्ट क्रोध से मेरा पीछा, आप ऐसे सज्जनो ने ही छुड़ाया है और कोई नहीं छुड़ा सकता था। अबतक मुझे जितने मनुष्यों से काम पड़ा था, उन्होने मेरे क्रोध को उत्तेजना ही दी थी, लेकिन इसका नाश कराने मे समर्थ न होसके थे। आपको, मैं अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ और अपने अपराधो के लिए क्षमाप्रार्थना करता हूँ।

विश्वामित्र की बात सुन, सारी सभा दङ्ग रह गई, कि जो विश्वामित्र अपने क्रोध के लिए प्रसिद्ध थे, नम्रता या क्षमा को जो जानते ही न थे, उनमे आज इतनी नम्रता कहाँ से आगई! विश्वामित्र को क्रोधरहित बना देने के लिए, सब लोग हरिश्चन्द्र को धन्यवाद देने लगे।

विश्वामित्र की बात के उत्तर में, हरिश्चन्द्र कहने लगे—महाराज, आप ऐसे ऋषि के लिए, मुझ तुच्छ की इतनी प्रशंसा करना अशोभनीय-कार्य है। जो कुछ भी हुआ है और जो भी हो रहा है, यह सब आप ही की कृपा का फल है। आपकी कृपा न होती, यदि आप मुझसे राज्य लेकर दक्षिणा का बोझ न डालते, यदि आप अपनी दक्षिणा

वसूली में ढील करते और हमें न बिकना पड़ता, तो आज आप जो आनन्द देख रहे है, यह आनन्द कदापि प्राप्त न होता। आपने, यह सब करके, मेरा उपकार ही किया है, अपकार नहीं। आप, मेरे उपकारी है। आप ही की परीक्षा से मैं जान सका हूँ, कि मैं सत्य का कहाँ तक पालन कर सकता हूँ; अतः आप धन्यवाद के पात्र है। आपने, मेरा उपकार करने में, जो कष्ट सहे है, उनके आभार से मै कदापि उऋण नही हो सकता। आप ही की कृपा से आज यह सम्मेलन हुआ है।

राजा की, यह उदारतापूर्ण बात सुनकर, सब लोग हरिश्चन्द्र की और भी प्रशंसा करने लगे।

विश्वामित्र बोले—बस राजन्! क्षमा करो। मै, आप ही मर चुका हूँ, अब इस प्रशंसा द्वारा मुझे और न मारो।

हरिश्चन्द्र—महाराज, मै मिथ्याभाषण तो जानता ही नही। मैंने जो कुछ भी प्रार्थना की है, सत्य ही की है।

विश्वामित्र—अब, मेरी प्रार्थना स्वीकार करके आप अयोध्या को चलिए और वहाँ का राज्य सम्हालकर प्रजा को प्रसन्न कीजिए। आपके बिना, अवध की प्रजा नितान्त दुःखी है।

हरिश्चन्द्र—महाराज, मैंने तो वह राज्य आपको दान मे दे दिया है। दान मे दी हुई वस्तु को, मै फिर कदापि नहीं ले सकता। इसके सिवा, अब मेरी राज्य करने की इच्छा भी नही है।

विश्वामित्र—राजन, मैंने उस समय जो कुछ भी किया था, वह, क्रोधवश किया था। क्रोध ने मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी, इसी से मैंने तुमसे राज्य माँग लिया था। तुम्हीं विचारो, कि ऐसा न होता, तो मै स्वयं तो अपने राज्य को त्याग चुका

था, फिर तुम से राज्य क्यो माँगता ? उस समय मेरी बुद्धि अस्थिर थी, इससे मैंने राज्य माँग लिया था। नीति के अनुसार बुद्धि की अस्थिरता मे किये गये कार्य, प्रामाणिक नहीं माने जाते। अत तुम्हे अपना राज्य लेने मे किञ्चित् भी संकोच न करना चाहिए।

हरिश्चन्द्र—महाराज, आपकी इस युक्ति को थोड़ी देर के लिए मैं मान भी लूँ, तब भी मै जिस राज्य को दान मे दे चुका, उसे फिर नहीं ले सकता। क्योकि क्रोध का आवेश रहा होगा तो आपको रहा होगा और बुद्धि अस्थिर रही होगी तो आपकी रही होगी। मैं, न तो क्रोध के आवेश मे ही था, न मेरी बुद्धि ही अस्थिर थी। मैंने, बुद्धि की स्थिरता मे राज्यदान दिया है, अतः मेरा कार्य तो प्रामाणिक ही माना जायगा।

विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र की उपरोक्त बातें सुन, वह देव कहने लगा, कि राज्य माँगने मे विश्वामित्र का किंचित् भी अपराध नहीं है। राज्य माँगने आदि के समय इनकी बुद्धि पर मेरा अधिकार था, अत आपको सत्य-भ्रष्ट करने के लिए मेरी ही प्रेरणा से इन्हो-ने राज्य माँगा था, और बिकने के लिए विवश किया था।

हरिश्चन्द्र—मैं आपकी बात भी मानता हूँ, परन्तु मेरी बुद्धि पर तो किसी दूसरे का आधिपत्य नहीं था ? मैंने तो जो कुछ भी किया है, वह स्व-बुद्धि से ही किया है ? ऐसी अवस्था मे मै दिये हुए दान को फिर वापस कैसे ले सकता हूँ ?

विश्वामित्र और उस देव को जब हरिश्चन्द्र ने निरुत्तर कर दिया, तब इन्द्रादि प्रमुख देव हरिश्चन्द्र से कहने लगे—राजन्! यद्यपि तुम्हें राज्य करने की आकांक्षा नहीं है, तथापि जिस कार्य से

जनता का हित हो, उस कार्य को करना तो स्वीकार करोगे न ?

हरिश्चन्द्र—हाँ, यदि मेरे किसी कार्य से दूसरो का हित होता हो, तो मै उसे प्राणपण से करने को तैयार हूँ।

इन्द्र—आप, विश्वामित्र की प्रार्थना स्वीकार करके अयोध्या को तो चलिए। वहाँ की प्रजा, यदि विश्वामित्र के शासन से सुखी हो, तब तो कोई बात ही नही है, किन्तु यदि वह विश्वामित्र के शासन से दु:खी हो और आपके शासन से उसे सुख मिलने की आशा हो, तब तो आपको शासन करना ही पड़ेगा। क्योकि आप अभी इस बात को स्वीकार कर चुके हैं, कि 'यदि मेरे किसी कार्य से दूसरों का हित होता हो, तो मैं उसे प्राणपण से करने को तैयार हूँ'। राज्य करते हुए राज्य-सुख भोगना, एक बात है और प्रजा के हित को दृष्टि मे रखकर, उसपर शासन करना तथा दुष्टो से प्रजा की रक्षा करना, दूसरी बात है। अतः आप राज्य चाहे न कीजिए, परन्तु प्रजा की इच्छा होने के कारण, उसकी रक्षा का भार तो आपको ग्रहण करना ही पड़ेगा।

इन्द्र की बात के उत्तर मे हरिश्चन्द्र ने कहा, कि मुझसे यह भी नही हो सकता। एक तो जिस राज्य को मै दान कर चुका, उस राज्य मे जाने या रहने का मुझे अधिकार ही नहीं है। दूसरे महाराजा विश्वामित्र की मेरे लिए यही आज्ञा है, कि मैं अयोध्या में न ठहरूँ। इन कारणो से मैं आपकी इस आज्ञा का पालन करने मे असमर्थ हूँ।

इन्द्र बोले—राजन्! आप केवल अयोध्या के राज्य के स्वामी थे, इसलिए दान किये हुए अयोध्या के राज्य में नही जाना चाहते हो। लेकिन यदि समस्त भूमण्डल के स्वामी होते और उस समय

अपना राज्य दान कर देते, तो फिर इस- प्रण का पालन कैसे करते ? क्या तब आत्म-हत्या कर डालते ? दूसरे राज्य में रहने की आज्ञा देने का अधिकार जिन विश्वामित्र को था, क्या उन्हें अपनी आज्ञा लौटा लेने का अधिकार नहीं है ? इस समय आपसे वे ही तो अयोध्या चलने के लिए प्रार्थना कर रहे है न ? फिर उनकी एक आज्ञा तो मानी जावे और दूसरी क्यो न मानी जावे ? इन वातों से आप अयोध्या चलने से नहीं छूट सकते, इसलिए आप अयोध्या चलिए। आपको अयोध्या का राज्य करना ही होगा, यह वात यहाँ कोई नहीं कह रहा है। इसका निर्णय तो परिस्थिति देखकर कीजिए।

इन्द्र के इस कथन का सवो ने समर्थन किया। सव लोग हरिश्चन्द्र से अयोध्या जाने के लिए अत्यधिक आग्रह करने लगे। सवके आग्रह को देखकर, हरिश्चन्द्र विचार मे पड़ गये, कि अव मुझे क्या करना चाहिए। इतने लोगो और विशेपत इन्द्र का आग्रह न मानना, हठ कहलावेगी। अन्त मे विवश होकर उनने कहा, कि रानी और मैं दोनो ही क्रीत-दास है। हमारे स्वामियो ने हमे पॉच-पॉच सौ स्वर्णमुद्रा मे खरीदा है। जव तक हमारे लिए दी हुई स्वर्णमुद्राएँ इन्हें वापस न मिल जावें, तव तक हमें चलने की वात करने का भी अधिकार नही है, यहाँ से अयोध्या चलना तो दूसरी वात है।

ब्राह्मण और भंगी कहने लगे, कि हम आपका मूल्य वैसे हो पा चुके। अव आप लोग हमारे दास नही हैं। हम, आप लोगों से कोई काम न लेगे।

भंगी और ब्राह्मण के नाही करते रहने पर भी, देवताओ ने उन्हे व्यय किये हुए द्रव्य से कई गुना अधिक द्रव्य दिया।

इस प्रकार, देवताओं ने, दम्पति को दासत्व से मुक्त किया। इन्द्र की आज्ञा से, देवताओ ने,तत्क्षण एक सुन्दर-विमान तैयार किया। इन्द्र, विश्वामित्र आदि की प्रार्थना पर, महाराजा हरिश्चन्द्र, महारानी तारा, और कुमार रोहित,ब्राह्मण और भंगी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके और उनकी स्वीकृति लेकर, तथा वहाँ के सब लोगो से बिदा माँगकर विमान में विराजे। विश्वामित्र तथा इन्द्रादि देवता भी विमान मे सवार हुए और विमान को अयोध्या की ओर चलाया।
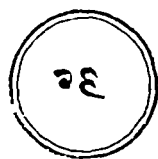
पुनरागमन

विश्वामित्र ने, अयोध्या की प्रजा को, सभा मे आमन्त्रित कर जैसे ही यह शुभ-समाचार सुनाया, कि हरिश्चन्द्र को मैं पुन लाकर अयोध्या के राज्यासन पर आसीन करूँगा, वैसे ही यह समाचार विजली की नाई सारे नगर में फैल गया। समस्त प्रजा प्रसन्न हो उठी और विश्वामित्र की दुर्बुद्धि मिट, सुबुद्धि आजाने के कारण, ईश्वर को धन्यवाद देने लगी। अस्तु।

आज, सारे नगर मे यही चर्चा है। हरिश्चन्द्र का आना सुनकर, लोग प्रसन्नता से फूले नही समाते। सारा नगर सजाया गया है। हरिश्चन्द्र के आने का शुभ-समाचार मिलने की अभिलाषा से, स्त्री-पुरुष जहाँ-तहाँ वैठे है। स्त्रिये, हरिश्चन्द्र और तारा का नाम ले-लेकर मङ्गल गारही हैं। पुरुष, हरिश्चन्द्र और तारा का जय-घोष करने के साथ ही, उनका और उनके सत्य का गुण-गान कर रहे हैं, तथा हरिश्चन्द्र की सत्य-पालन मे विजय होने के कारण, प्रसन्नता प्रदर्शित कर रहे हैं। हरिश्चन्द्र के लौटकर अयोध्या आने की अभिलाषा से, सारा नगर मूर्त्तिमान आनन्द वना हुआ है। वहुत से लोग, ऊँचे-ऊँचे स्थानों पर चढ़कर,

काशी के मार्ग की ओर टकटकी लगाकर देख रहे हैं। सहसा, काशी की ओर से एक विमान आता हुआ उनकी दृष्टि पड़ा।

काशी की ओर से एक विमान आरहा है, और सम्भव है, कि उसी विमान में महाराजा हरिश्चन्द्र और पुत्र सहित महारानी तारा हो, इस अभिलाषा से सारे नगर-निवासी, काशी के मार्ग की ओर दौड़ चले। स्त्रियें, सोने के थालो मे मङ्गल-द्रव्य सजा, हरिश्चन्द्र और तारा के मङ्गल गीत गाती जारही है और पुरुष, उच्चस्वर से जयघोष करते जारहे हैं। विमान को देख कर, सारे नगर-निवासी उसी प्रकार उमड़ पड़े और उसी प्रकार कोलाहल करने लगे, जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर समुद्र।

उधर विमान मे, महाराजा हरिश्चन्द्र, इन्द्र को अयोध्यापुरी बतलाते हुए कह रहे हैं, कि यही वह अयोध्या है, जिसमें जन्म धारण करने को देवतालोग भी लालायित रहते है। यहाँ के नर-नारी मुझे बहुत ही प्रिय है। अयोध्या के सन्मुख, मेरी दृष्टि मे स्वर्ग भी तुच्छ है। एक तो अयोध्या-पुरी प्राकृतिक कारणो से ही रम्य है, दूसरे, इसी नगरी मे भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थङ्करो ने जन्म धारण किया था और तीसरे यह अयोध्यापुरी उस मृत्यु-लोक मे है, जहाँ पुण्योपार्जन के कार्य किये जा सकते है। इन सब कारणो से, अयोध्या बहुत ही प्रशंसनीय-स्थल है।

हरिश्चन्द्र की बात के उत्तर मे, इन्द्र कहने लगे, कि वास्तव मे अयोध्या ऐसी ही है। अयोध्या की जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह कम है। मैं, इन्द्र होकर भी इस अयोध्या का ऋणी हूँ।

इस प्रकार बातचीत करते हुए, विमान में बैठे-बैठे सब लोग

अयोध्या के समीप आये। नगर के बाहर, प्रजा को एकत्रित और विमान की ओर दृष्टि किये हुए देख, हरिश्चन्द्र, इन्द्र से कहने लगे—महाराजा, अब मेरा विमान पर रहना उचित नहीं है। अवध की प्रजा, मेरी प्रतीक्षा में भूमि पर खड़ी है और मैं उपेक्षा-पूर्वक आकाश मे रहूँ, यह सर्वथा अनुचित है। इसके सिवा, हम मनुष्य नभचर नहीं, किन्तु भूमिचर है। हमे तो भूमि पर रहने से ही आनन्द आता है।

इन्द्र की आज्ञा से, विमान भूमि पर उतरा। विमान मे, हरिश्चन्द्र और रोहित सहित तारा को देखकर, प्रजा को वैसा ही आनन्द हुआ, जैसा आनन्द गोतेखोर को डुबकी लगाने पर रत्न मिल जाने से होता है। अपनी प्यारी-प्रजा को, बहुत दिनों के पश्चात् देखने के कारण, हरिश्चन्द्र और तारा को भी वैसी ही प्रसन्नता हुई, जैसी प्रसन्नता दिनभर से बिछुडे हुए बच्चे को पाकर, गौ को होती है।

विमानमें से, हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित के उतरते ही, प्रजा ने उनपर वस्त्राभूषणादि न्योछावर किये और पुष्पों की वृष्टि के साथ-साथ गगनभेदी जयनाद किया। पुरुषों ने, हरिश्चन्द्र को स्त्रियों ने तारा को और बालकों ने रोहित को, चारों तरफ से घेर लिया। स्त्री-पुरुष, तारा और हरिश्चन्द्र के चरणों मे गिर-गिरकर उन्हें प्रणाम करने लगे। पृथ्वी पर पड़े हुए लोगों को उठा-उठा कर राजा तथा रानी, अपने कण्ठ से लगाने लगे और उनसे कुशल-प्रश्न करने लगे। परन्तु, प्रेम-मग्न प्रजा, उस समय इनके कुशलप्रश्न का उत्तर, सिवा आँखों से आँसू बहाने के, और कुछ न दे सकी। हृदयरूपी सरोवर से, प्रेमरूपी जल को, नेत्रों

द्वारा बाहर निकाल कर, सब स्त्री-पुरुष, तारा और हरिश्चन्द्र के चरणों को, इस प्रकार सिंचन करने लगे, जैसे उनके द्वारा किये गये कुशलप्रश्न का उत्तर दे रहे हो।

हरिश्चन्द्र के मिलने से, प्रजा को जो आनन्द हुआ, वह अवर्णनीय है। हरिश्चन्द्र के लौट आने की खुशी मे, सबने यथाशक्ति दान दिया। स्त्रिये भी, तारा को पाकर प्रसन्न हो उठी और तारा से कहने लगी, कि आपने ऐसे आपद्काल मे पति के साथ जाकर, स्त्रीजाति का मुख उज्वल कर दिया। वास्तव मे आप, स्त्रीजाति को कलङ्क से बचाने के लिए ही, पति के साथ कष्ट सहन करने को गई थी।

प्रजा का ऐसा प्रेम देखकर, इन्द्रादि सब देवता, प्रजा और हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करने लगे। विश्वामित्र ने, राजा को राजमहल मे ले चलने के लिए, प्रजा को सङ्केत किया। विश्वामित्र के सङ्केतानुसार, हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित को लेकर, प्रजा राजमहल की ओर चली। इन्द्रादि सब देवता और विश्वामित्र भी साथ-ही-साथ राजमहल को चले।

हरिश्चन्द्र के आने की आशा से, नगरवासियो ने नगर को तो पहले से ही सजा रखा था। स्थान-स्थान पर सुन्दरता बढ़ाने और स्वागत प्रदर्शित करनेवाली वस्तुएँ लगाई गई थीं। नगर मे, चारो ओर सुगन्धित-पदार्थ इस तरह उड़ रहे थे, और उनसे वातावरण ऐसा हो रहा था, मानो कुहरा गिर रहा हो। इस सजाये हुए नगर मे, प्रजा ने एक जलूस बनाकर, राजा, रानी और रोहित को घुमाया और फिर उन्हे राजमहल को ले जाया गया।

राजमहल, जो महाराजा हरिश्चन्द्र के बिना एक विशेष-

समय मे सूना था, आज महाराजा हरिश्चन्द्र के उसमे पदार्पण करने मे सुशोभित हो उठा। जिस सूने राजमहल को देख-देखकर प्रजा दु ख किया करती थी, उसी राजमहल में आज राजा, रानी और रोहित के पुन पधार जाने से, प्रजा को अपार आनन्द हुआ।

पुनः राज्य-प्राप्ति
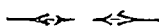
महाराजा-हरिश्चन्द्र और महारानी तारा आदि के राजमहल मे पहुँचने पर, विश्वामित्र ने फिर हरिश्चन्द्र से कहा, कि अब आप राज्यासन को सुशोभित कीजिए। आपके बिना, यहाँ की प्रजा वहुत व्याकुल थी। अत. आप राज्यसान पर विराजकर, इसके दु ख दूर कीजिए।

हरिश्चन्द्र—महाराज, यह राज्य आपका है, मेरा नही। मैं, इसे आपको दानमे दे चुका हूँ। दान मे दी हुई वस्तु पर अब मेरा कोई अधिकार नही है। हम, इन्द्र की आज्ञा और आपकी बात मानकर, यहाँ आये है, अन्यथा जिस राज्य को हम दान कर चुके थे और जिसमें न रहने की हमे आज्ञा हुई थी, उस राज्य मे पैर रखने का हमे कोई अधिकार न था। प्रजा ने, मुझे देख लिया और मैने प्रजा के दर्शन कर लिये, यही आपकी कृपा वहुत है। प्रजा यदि दु खी है, तो राजा होने के कारण, इसका उत्तरदायित्व आप पर है, मुझ पर नही।

हरिश्चन्द्र का यह उत्तर सुनकर, प्रजा बहुत दुःखी हुई। वह

हरिश्चन्द्र से राज्य-भार ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगी। हरिश्चन्द्र ने, प्रजा को समझाते हुए कहा, कि मै इस राज्य को दान कर चुका हूँ, अत फिर ग्रहण नही कर सकता।

अल्पबुद्धि-प्रजा, हरिश्चन्द्र के इस कथन से निरुत्तर हो, चुपचाप आँसू वहाने लगी। तव इन्द्र ने हरिश्चन्द्र से कहा, कि आप मुझसे यह वात कह चुके हैं, कि "मैं दूसरे के हित के कार्य करने के लिए प्राणपण से तैयार हूँ।" अत मै प्रजा से यह प्रश्न करता हूँ, कि उसका हित विश्वामित्र के राजा रहने से है, या आपके ?

इन्द्र के उपरोक्त प्रश्न करने पर, प्रजा ने एक स्वर मे कहा, कि हमारा हित महाराजा-हरिश्चन्द्र के राज्य करने से ही होगा। क्यों, जो सुख इनके राज्य मे मिला था और भविष्य मे मिलने का विश्वास है, वह सुख, विश्वामित्र के राज्य मे कभी स्वप्न मे भी नही मिला और न भविष्य में मिलने की आशा ही है।

प्रजा का उत्तर सुनकर, इन्द्र, फिर महाराजा हरिश्चन्द्र से कहने लगे—प्रजा आप से प्रसन्न है और आपके राज्य करने से सुख की आशा करती है। ऐसी दशा मे, प्रजा की इच्छा के विरुद्ध और वह भी ऐसे समय मे, जव कि विश्वामित्र स्वय ही आपसे राज्य ले लेने का आग्रह कर रहे है, राज्य न लेना कदापि उचित नहीं है। प्रजा, आपसे सुख की आशा करती है, अत आपको यही उचित है, कि आप उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करें।

हरिश्चन्द्र—परन्तु आप ही कहिए, कि जो वस्तु दान मे दी जा चुकी है, क्या उसे फिर लौटा लेना उचित है ?

इन्द्र—आपका यह कथन यथार्थ है, परन्तु मै पहले ही कह चुका हूँ, कि राज्य करके राज्य-सुख भोगना एक बात है और प्रजा पर शासन करके दुष्टों से उसकी रक्षा करना, तथा उसे सुख-समृद्धि-सम्पन्न बनाना, दूसरी बात है। आपको, यह दूसरी बात करने के लिए ही कहा जाता है, पहली बात के लिए राज्य नहीं सौंपा जा रहा है। इसके सिवा, राज्य को दान मे आपने दिया है, कुमार रोहित ने नहीं। विश्वामित्र,अपना राज्य, कुमार रोहित को देते है। रोहित, को विश्वामित्र का दिया हुआ राज्य लेने में कोई हर्ज नहीं है। रोहित जब तक छोटा है, राज्यभार वहन नहीं कर सकता, तब तक उसकी ओर से, उसके अभिभावक होने के कारण आप राज्य कीजिए। और जब रोहित राज्यभार वहन करने के योग्य होजावे, तब आप उसका राज्य उसे सौंप दीजिए। साराश यह, कि आपको दोनो तरह से राज्य लेना पड़ेगा। यदि आप यह कहे, कि हम दान मे दी हुई वस्तु मे से खावे-पीवे कैसे, तो उसका उत्तर यह है, कि संसार मे कोई भी मनुष्य बिना खाये-पिये काम नहीं कर सकता। आप, बिके हुए थे, तब भी क्रयी-स्वामी के यहां का अन्न खाया ही होगा। उसी प्रकार यहाँ भी काम कीजिए और खाइए-पीजिए। प्रजा आपके बिना कितने कष्ट पा रही है, इस बात को विचारिए। अब, इसे दु:ख-मग्न ही रहने देना, आप ऐसे सत्यवादी के लिए उचित नहीं है।

इन्द्र, विश्वामित्र, प्रजा और अपने कष्टदाता देव आदि के समझाने-बुझाने तथा अनेक अनुनय-विनय करने पर, विवश हो-कर हरिश्चन्द्र ने, रोहित के वयस्क होने तक राज्य सम्भालना स्वीकार किया। ऐसा करके उन्होंने, मानों भविष्य के लिए यह

आदर्श रखा हो, कि इसी प्रकार से हमारे वंशज भरत, अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजी की अनुपस्थिति में, अयोध्या का राज्य सम्हालें। हरिश्चन्द्र के राज्य स्वीकार करते ही, सारी प्रजा आनन्द-मग्न हो-गई। हरिश्चन्द्र और तारा के जयघोष से, सारा राजमहल गूँज उठा।

अयोध्या से, काशी को रवाना होते समय ही, विश्वामित्र, मन्त्रियों को राज्याभिषेक की सामग्री प्रस्तुत रखने की आज्ञा दे गये थे। तदनुसार, राज्याभिषेक की सारी सामग्री लाकर, सिंहासन के समीप रखी गई। विधि सहित हरिश्चन्द्र, तारा और कुमार रोहित को राजसी वस्त्रालङ्कारों से अलंकृत किया गया। अवध का वह राजमुकुट, जो हरिश्चन्द्र से त्यागे जाने पर यों ही रक्खा हुआ था, हरिश्चन्द्र के मस्तक पर पुनः शोभा पाने लगा। यह सब कुछ हो-जाने पर, रानी और कुमार सहित महाराजा हरिश्चन्द्र, अवध के उस छत्रमय राज्यसिंहासन पर बैठाये गये, जो इनके बिना खाली पड़ा रहता था। विश्वामित्र ने, राजा के हाथ में राज्य-दण्ड दिया। सब लोग, महाराजा-हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और कुमार रोहित की जय बोलने लगे, तथा बन्दीलोग उनका यश गाने लगे। विविध प्रकार के वाद्यों से, सारा नभ गूँज उठा। सब लोगों ने, यथा-विधि भेंट प्रस्तुत की और महाराजा हरिश्चन्द्र ने सबका उचित आदर-सत्कार किया।

राज्याभिषेक के, तत्कालीन सब कार्य निबट जाने पर, सब लोगों की उपस्थिति में, सभा के मध्य खड़े होकर, इन्द्र कहने लगे—एक दिन वह था, जब कि मैंने अपनी सभा में महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य की प्रशंसा की थी और एक दिन आज है, जब कि मैं, इनके सन्मुख ही इनकी प्रशंसा करने के लिए खड़ा हुआ हूँ।

इन्द्र—आपका यह कथन यथार्थ है, परन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ, कि राज्य करके राज्य-सुख भोगना एक बात है और प्रजा पर शासन करके दुष्टों से उसकी रक्षा करना, तथा उसे सुख-समृद्धि-सम्पन्न बनाना, दूसरी बात है। आपको, यह दूसरी बात करने के लिए ही कहा जाता है, पहली बात के लिए राज्य नहीं सौंपा जा रहा है। इसके सिवा, राज्य को दान मे आपने दिया है, कुमार रोहित ने नही। विश्वामित्र,अपना राज्य, कुमार रोहित को देते हैं। रोहित, को विश्वामित्र का दिया हुआ राज्य लेने में कोई हर्ज नहीं है। रोहित जब तक छोटा है, राज्यभार वहन नही कर सकता, तब तक उसकी ओर से, उसके अभिभावक होने के कारण आप राज्य कीजिए। और जब रोहित राज्यभार वहन करने के योग्य होजावे, तब आप उसका राज्य उसे सौंप दीजिए। सारांश यह, कि आपको दोनों तरह से राज्य लेना पड़ेगा। यदि आप यह कहे, कि हम दान मे दी हुई वस्तु मे से खावे-पीवे कैसे, तो उसका उत्तर यह है, कि संसार मे कोई भी मनुष्य बिना खाये-पिये काम नही कर सकता। आप, बिके हुए थे, तब भी क्रयी-स्वामी के यहाँ का अन्न खाया ही होगा। उसी प्रकार यहाँ भी काम कीजिए और खाइए-पीजिए। प्रजा आपके बिना कितने दुःख पा रही है, इस बात को विचारिए। अब, इसे दुःख-मग्न ही रहने देना, आप ऐसे सत्यवादी के लिए उचित नहीं है।

इन्द्र, विश्वामित्र, प्रजा और अपने कष्टदाता देव आदि के समझाने-बुझाने तथा अनेक अनुनय-विनय करने पर, विवश हो-कर हरिश्चन्द्र ने, रोहित के वयस्क होने तक राज्य सम्हालना स्वीकार किया। ऐसा करके उन्होंने, मानो भविष्य के लिए यह

आदर्श रखा हो, कि इसी प्रकार से हमारे वंशज भरत, अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजी की अनुपस्थिति में, अयोध्या का राज्य सम्हाले। हरिश्चन्द्र के राज्य स्वीकार करते ही, सारी प्रजा आनन्द-मग्न हो-गई। हरिश्चन्द्र और तारा के जयघोष से सारा राजमहल गूँज उठा।

अयोध्या से, काशी को रवाना होते समय ही, विश्वामित्र, मन्त्रियों को राज्याभिषेक की सामग्री प्रस्तुत रखने की आज्ञा दे गये थे। तदनुसार, राज्याभिषेक की सारी सामग्री लाकर, सिंहासन के समीप रखी गई। विधि सहित हरिश्चन्द्र, तारा और कुमार रोहित को राजसी वस्त्रालङ्कारों से अलंकृत किया गया। अवध का वह राजमुकुट, जो हरिश्चन्द्र से त्यागे जाने पर यों ही रक्खा हुआ था, हरिश्चन्द्र के मस्तक पर पुन शोभा पाने लगा। यह सब कुछ हो-जाने पर, रानी और कुमार सहित महाराजा हरिश्चन्द्र, अवध के उस छत्रमय राज्यसिंहासन पर बैठाये गये, जो उनके बिना खाली पड़ा रहता था। विश्वामित्र ने, राजा के हाथ मे राज्य-दण्ड दिया। सब लोग, महाराजा-हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और कुमार रोहित की जय बोलने लगे, तथा बन्दीलोग उनका यश गाने लगे। विविध प्रकार के वाद्यों से, सारा नभ गूँज उठा। सब लोगो ने, यथा-विधि भेंट प्रस्तुत की और महाराजा हरिश्चन्द्र ने सबका उचित आदर-सत्कार किया।

राज्याभिषेक के, तत्कालीन सब कार्य निबट जाने पर, सब लोगों की उपस्थिति मे, सभा के मध्य खड़े होकर, इन्द्र कहने लगे—एक दिन वह था, जब कि मैंने अपनी सभा मे महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य की प्रशंसा की थी और एक दिन आज है, जब कि मै, उनके सन्मुख ही उनकी प्रशंसा करने के लिए खड़ा हुआ हूँ।

उस समय मैंने जो प्रशंसा की थी, वह उसी प्रकार की थी, जैसे सोने को केवल रङ्ग-रूप देखकर सोना कहना और आज जो प्रशंसा कर रहा हूँ वह वैसी है, जैसे सोने को तपाकर, कूटकर और काटकर परीक्षा करने के बाद सोना कहना। आज, जो प्रशंसा कर रहा हूँ, वह महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य की परीक्षा होजाने के बाद कर रहा हूँ। यद्यपि मैं यह जानता हूँ, कि महाराजा हरिश्चन्द्र अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर महारानी तारा की सहायता से ही स्थिर हो सके है, और उन्ही की सहायता से वे सत्य-पालन मे समर्थ हुए है, लेकिन साथ ही यह भी मुझे मालूम है, कि भारत की स्त्रियें अपने पति के होते हुए, अपनी प्रशंसा की इच्छुक नही रहती। वे, जो कुछ भी सद्कार्य करती है, उसका श्रेय पति को ही देती है और पति की प्रशंसा से ही प्रसन्न रहती, तथा पति की प्रशंसा को अपनी ही प्रशंसा समझती हैं। इसलिए मैं; महारानी-तारा की प्रशंसा पृथक् न करके, केवल उन महाराजा-हरिश्चन्द्र की ही प्रशंसा करता हूँ, जिनकी वे अर्द्धांगिनी है।

महाराजा-हरिश्चन्द्र के विषय मे कुछ कहने से पहले मैं, इस भारत-भूमि और विशेषत: इस अयोध्या की भूमि को धन्यवाद देता हूँ, जिसमे महाराजा हरिश्चन्द्र ऐसे सत्यधारी राजा विराजते हैं और जिनकी प्रजा सत्यपालन मे उनका अनुकरण करती है। इस भारत और अयोध्या की भूमि की जितनी प्रशंसा की जाय, वह कम है।

महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्यपालन की महिमा, पूर्णरूप से वर्णन करने को तो यद्यपि मै समर्थ नहीं हूँ तथापि इतना तो मै कहना ही चाहता हूँ, कि महाराजा हरिश्चन्द्र ने धर्म का मर्म

समझकर ही इतनी कष्ट सहन की तपस्या की है। इन पर, जैसे-जैसे सङ्कट पड़े हैं, साधारण मनुष्य तो उनको सुनकर भी घबरा जायगा। परन्तु ये उन कष्टों को, धैर्यपूर्वक सहते रहे और अपने सत्य से विचलित न हुए। यही कारण है, कि आज मनुष्यलोक में ही नहीं, किन्तु देवलोक में भी उनके सत्य के साथ-ही-साथ इनकी भी प्रशंसा हो रही है। आज, सारा संसार इनके सत्य की सराहना कर रहा है। यदि महाराजा-हरिश्चन्द्र के समान सत्यधारी राजा न होते, तो मैं नहीं कह सकता, कि देवलोक मे देवतालोग सत्य के लिए किसका आदर्श सन्मुख रखकर सत्य के गीत गाते। महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य पर मुग्ध होकर, मेरा हृदय यही कहता है, कि सत्यरहित राजत्व की अपेक्षा ऐसे सत्यधारी का, दासत्व भी कई गुना श्रेष्ठ है। सत्यरहित राज्य नर्क की ही प्राप्ति करावेगा, लेकिन सत्यसहित दासत्व, आत्मा को उन्नतावस्था में पहुँचावेगा।

अन्त मे, मैं आशीर्वाद देता हूँ, कि महाराजा-हरिश्चन्द्र और इनके सत्य की कीर्ति वैसी ही अनन्त और अटल बनी रहे, जैसा अनन्त और अटल आकाश है। जिस सत्य पर विश्वास करके महाराजा हरिश्चन्द्र ने इतने कष्ट सहे हैं, और जिस सत्य के प्रताप से आज इनकी कीर्ति दिग्दिगन्त मे व्याप्त हो रही है, उस सत्य पर विश्वास करनेवाले और उस सत्य के पालन मे कष्ट से भयभीत न होनेवाले लोग, निश्चय ही शुभगति को प्राप्त होंगे।

इस प्रकार सत्य और हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करके, हरिश्चन्द्र से विदा माँगकर, इन्द्रादि सब देवता तो देवलोक को गये और विश्वामित्र वन को चले गये।

राज्य और दीक्षा

संसार का नियम है, कि इच्छित-वस्तु के प्राप्त होने पर हृदय को अपार आनन्द होता है। इसी के अनुसार आज, महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के प्राप्त होने से, प्रजा को भी अपूर्व आनन्द है। इस आनन्द से, सारा नगर प्रफुल्लित हो उठा और वहाँ के निवासी कई दिन तक उत्सव मनाते रहे।

सब लोगो को बिदा करके, महाराजा-हरिश्चन्द्र राज-कार्य मे संलग्न हुये। राज्य मे, महाराजा हरिश्चन्द्र के नाम का ढिंढोरा पिट जाने तथा उनकी गगन-स्पर्शी ध्वजा के उड़ने से, चोर, लम्पटादि उसी प्रकार छिप गये, जैसे सूर्योदय से तारे। सब लोग, अपने-अपने कर्त्तव्य का पूर्ववत् पालन करने लगे और सत्य-पालन के लिए अपने राजा को आदर्श मान, सत्य मे दृढ़ रहने लगे। थोड़े ही दिनो मे, सारी प्रजा पुनः सुख-समृद्धि-सम्पन्न होगई।

यद्यपि अयोध्या का राज्य पूर्ववत् ही महाराजा हरिश्चन्द्र के अधिकार मे आगया, लेकिन महाराजा हरिश्चन्द्र ने, राज्य की आय से स्वयं किंचित भी लाभ नही उठाया। वे, अपने तथा रानी के भरण-पोपण के लिए, पृथक् उद्योग करते और उसी से अपने खाने-पीने आदि का कार्य चलाते।

महाराज हरिश्चन्द्र ने, अत्यन्त न्याय-पूर्वक राज्य किया। उनके राज्य मे, अन्याय का तो कोई नाम भी न जानता था। न्यायपूर्वक राज्य करनेवाले राजा की प्रजा सुखी रहती ही है,अत महाराजा हरिश्चन्द्र की प्रजा भी सुखी थी। कहीं भी दुर्भिक्ष या महामारी का नाम सुनाई नहीं देता था। उनका राज्य, मानों मूर्तिमान् शान्ति था। उनकी प्रजा यह नहीं जानती थी, कि दरिद्रता का दु:ख कैसा होता है। प्राय: मनुष्यों की आर्थिक स्थिति अच्छी ही थी। सब जीव ऐसे निर्वैर रहते थे, कि कोई भी किसी को न सताता था।

महाराजा हरिश्चन्द्र के राज्य में, अतिवृष्टि या अनावृष्टि नहीं होती थी,समय-समय पर आवश्यकतानुसार वर्षा हुआ करती थी। सुगन्धयुक्त शीतल-पवन, मन्द-मन्द गति से वहा करता था। सूर्य,मर्यादा के अनुसार ही तपता था, न्यूनाधिक नहीं। पृथ्वी सदा हरियाली—पूरित रहती थी, और प्रजा के लिए उत्तमोत्तम अन्न दिया करती थी। वन के वृक्ष, फलफूलों से लदे ही रहते। गौ आदि दुधारू-पशु, दूध और घृत से प्रजाजनों को सदा प्रसन्न रखते। नदियें, प्रजा को सुख पहुँचाती हुई ऐसी वहतीं, मानो अमृत लेकर वह रही हो। समुद्र, समय-समय पर मणि-मुक्तादि इस प्रकार अपने किनारे डाला करता, जैसे प्रजा को उसकी सद्भावनाओं का पुरुस्कार देता हो। साराश यह, कि महाराजा हरिश्चन्द्र का राज्य, वड़ा ही सुखदायक था। दशो दिशाओं में आनन्द इस प्रकार व्याप्त था,मानो वह महाराजा हरिश्चन्द्र और उनकी प्रजा के अधीन हो। अस्तु।

पहले के लोग, अपनी सारी आयु को संसार के भ्रमजाल मे

ही नहीं बिताते थे, अपितु आयु का एक भाग आत्मकल्याण मे भी लगाते थे। वैसे तो गृहस्थी मे रहते हुये भी, वे आत्मकल्याण की ओर लेजानेवाले कार्य किया करते थे, परन्तु आयु का अन्तिम-भाग, निरन्तर इसी कार्य मे लगा दिया करते थे। इसी लिए, उन्होने आयु को चार भागो मे विभक्त कर रक्खा था। आयु के प्रथम भाग मे, वे ब्रह्मचर्य पालन के साथ विद्योपार्जन किया करते थे। दूसरे भाग मे, गृहस्थी के कार्यों का बोझ अपने ऊपर लेकर, गृहस्थाश्रम का संचालन करते थे। तीसरे भाग मे, संसार-त्याग का अभ्यास करते थे और चौथे भाग मे, संसार से विरक्त हो, ईश्वर-भजन मे तल्लीन होजाते थे। इन नियमो का पालन न करनेवाला अधम माना जाता था और सब लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। इसलिए सब लोग, सन्तान के गृहस्थी का भार वहन करने के योग्य होते ही, गृहस्थाश्रम का त्याग करके विरक्त हो जाते थे। घर मे रहकर,सांसारिक-कार्यों मे उलझे हुए ही मरना, एक लज्जास्पद और कायरोचित-बात मानी जाती थी। उनका सिद्धान्त था:—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया।
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्॥
त्यजन्तः स्वातन्त्र्यादतुल परितापाय मनसः।
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्त विदधाति॥

अर्थात्—विषयो को हम चाहे जितना भोगे, चाहे जितना प्यार करें, किन्तु एक दिन वे निश्चय ही हमसे अलग हो जावेंगे; तब हम स्वयं अपनी इच्छा से ही उन्हे क्यो न छोड़ दें ? क्योंकि

जब वे विषय हमको छोड़ेंगे,तब हमें बड़ा दु:ख और मनको क्लेश होगा और यदि हम उनको छोड़ देंगे, तो हमें अनन्त सुख और शान्ति प्राप्त होगी।

महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा की, युवावस्था व्यतीत हो चुकी थी। यद्यपि, तेजस्वी होने के कारण युवावस्था के अवसान के कोई चिन्ह इनके शरीर पर दिखाई न देते थे, तथापि ये लोग आज के लोगों की तरह न थे, जो बुढापे को भी जवानी मानकर गृहस्थी में ही फँसे रहते। इन्द्रियों में, किंचित भी शिथिलता आने को, उस समय के लोग वृद्धावस्था का नोटिस समझते और जहाँ आज के लोग, शिथिल इन्द्रियों को पुन: जाग्रत करने, तथा श्वेत-केशों को पुन: श्याम बनाने के लिए औषधियों का प्रयोग करते हैं, वहाँ उस समय के लोग गृहस्थी छोड़कर तपस्या में तल्लीन हो जाते थे। इसीके अनुसार, महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी-तारा ने भी, गृह-त्याग का विचार किया। इधर रोहित भी बड़े हो चुके थे। राज-कार्य सम्हालने की योग्यता भी उनमें आचुकी थी। महाराजा हरिश्चन्द्र ने, रोहित के बड़े होने तक के लिए ही, राज्य करना स्वीकार किया था, इसके अनुसार भी उन्होंने राज्य-त्याग करना उचित समझा।

राज्य-त्याग का विचार करके, महाराजा हरिश्चन्द्र ने, रोहित के राज्याभिषेक की तैयारी करवाई। अपने प्रिय राजा-रानी के विचारों से, प्रजा भी सहमत हुई और प्रजावर्ग के बहुत से स्त्री-पुरुष, राजा-रानी के इस कार्य का अनुकरण करने को तैयार हुए।

'यथा राजा तथा प्रजा' इस कहावत के अनुसार, प्रजा उन

कार्यों को विशेष रूप से अपनाती है, जिन्हे राजा करता है। मनुष्य, स्वभाव से ही अनुकरण-शील होता है। उसमें भी फिर राजा का अनुकरण करना तो, प्रजा अपने लिये गौरव की बात समझती है। राजा के प्रत्येक-कार्य का, प्रजा अनुकरण करने लगती है, फिर चाहे वे कार्य अच्छे हो, या बुरे। कौनसा कार्य अच्छा अथवा बुरा है, इस बात के विचार का भार राजा के ऊपर समझकर, जिन कार्यों को राजा करता है, उन्हे करने में प्रजा किञ्चित भी नही हिचकिचाती। कार्य की अच्छाई-बुराई पर विचार करने की बुद्धि, प्रजा-जनो मे से बहुत कम लोगो में होती है। इसलिए पहले के राजालोग, प्रत्येक कार्य ऐसे रूप में करते थे, जिनका अनुकरण करने से प्रजा को किसी प्रकार की हानि न हो; हॉ, लाभ अवश्य हो। झूठ, व्यभिचार, हिंसा, मादकता आदि बुरे कामो को, वे अपने पास भी न फटकने देते थे। यही कारण था, कि राजा के कार्यों का अनुकरण करने पर प्रजा, इहलौकिक आनन्द प्राप्त करने के साथ ही, पारलौकिक आनन्द भी प्राप्त करती थी।

निश्चित-समय पर महाराजा हरिश्चन्द्र ने, राज्यासन पर कुमार रोहित को बैठाकर उनका राज्याभिषेक किया। कुमार रोहित के राजा होने से, सारी प्रजा प्रसन्न हो उठी और महाराजा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करने लगी। राज्याभिषेक की समस्त विधिये निबट जाने पर, रोहित को राजदण्ड सौंपते हुए महाराजा हरिश्चन्द्र कहने लगे—"आज बड़े हर्ष की बात है, कि मैं राज्य और गृहस्थी का भार कुमार रोहित को सौंप, महारानी तारा सहित इस कार्य मे मुक्त होकर, शेष जीवन ईश्वर-भजन मे व्यतीत करने के लिए

वन को जारहा हूँ। रोहित, यद्यपि स्वयं एक चतुर और प्रजा-प्रिय शासक सिद्ध होंगे, तथापि पिता होने के कारण मेरा कर्तव्य है, कि मैं इन्हे सिखावन के लिए कुछ कहूँ। इसलिए मै, रोहित को अपनी ओर से यह सिखावन देता हूँ, कि राजा के लिये प्रजा पुत्रवत् है। जिस प्रकार, पुत्र के सुख-दुःख आदि का ध्यान रखना तथा दुःख दूर करके उसे सुख पहुँचाना पिता का कर्त्तव्य है, इसी-प्रकार राजा का भी कर्तव्य है, कि वह प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता रखकर, उसका दुःख दूर करे। जो राजा, अपनी प्रजा का दुःख दूर करने मे असमर्थ होता है, या इस ओर उपेक्षा-भाव रखता है, वह अयोग्य समझा जाता है। इसलिये राजा को, प्रजा का दुःख दूर करने में कदापि शिथिलता न करनी चाहिए। प्रजा के सुखी रहने पर ही, राजा सुखी रह सकता है, अन्यथा कदापि सुखी नहीं रह सकता। इसके सिवा, प्रत्येक व्यक्ति का दान-मान से सम्मान करना भी राजा का कर्तव्य है। जो राजा, दान करना और आने-जानेवाले का सम्मान करना नही जानता, वह भी अ-योग्य माना जाता है।"

"अन्त में, मैं यही कहता हूँ, कि राज्य चाहे चला जावे, परन्तु सत्य और धर्म को कदापि हाथ से न जाने देना। सत्य और धर्म के रहने पर, और सब वस्तुएँ फिर प्राप्त हो सकती हैं; परन्तु इनके न रहने पर, ये संसार की जड़-वस्तुएँ किसी काम की नहीं हैं। बिना सत्य और धर्म के ये सांसारिक-वस्तुएँ, इस लोक मे तो दुःखदाता होंगी ही, परन्तु परलोक मे भी दुःखदाता ही होंगी।"

"मैं, प्रजा को रोहित के और रोहित को प्रजा के हाथ सौंप